शिखंडी

[उपन्यास]

कामेश्वर शर्मा

राज-प्रकाशन पटना—४

प्रकाशक—
राज प्रकाशन
मछुआ टोली
पटना–४

प्रथम संस्करण
१९५५

मूल्य ३)

मुद्रक—
काशीप्रसाद भार्गव
सुलेमानी प्रेस,
बनारस

भूमिका

शिक्षित मध्यवित्त युवक की कुंठाओं का अलबम है यह उपन्यास। साथ ही, दुविधाओं की दलदल से बाहर आने की उसकी आकुलता भी जहाँ-तहाँ जगमगा रही है। हमारे यहाँ का मध्यवर्ग कामेश्वर शर्मा की राय में 'नपुंसक और शिखंडी' है। वह सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करता है, पूँजीपतियों के चक्र का चालक है। पर अपने लिए? अपने लिए कुछ भी कर गुजरने की क्षमता उसमें नहीं है। जिन्दगी भर वह किराये के मकान में रहता है। पेन्शन पाता है तो उस वक्त अपनी कहने को गिरी-पड़ी एक झोपड़ी तक उसके पास नहीं हुआ करती। वह बाहर जो कपड़े पहनता है, वे घर में घुसने के वक्त ही खूँटी पर टँग जाते हैं। घर के अंदर पहनी जाने वाली लुंगी बाहर सड़क की हवा खाने का सौभाग्य शायद ही कभी वह पाती हो! इसी मूल बिंदु को आधार बनकर 'शिखंडी' की कथा-वस्तु तैयार की गई है।" (एक चिट्ठी का अंश)

आलोचक और अध्यापक के रूपों में कामेश्वर शर्मा काफी कीर्ति हासिल कर चुके हैं। 'दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि' और 'हिन्दी साहित्य को बिहार की देन' आपके आलोचना-ग्रन्थ हैं। उत्तर-बिहार में आधुनिक शिक्षा के सर्वश्रेष्ठ केन्द्र [लंगटसिंह कालेज, मुजफ्फरपुर] में हिन्दी का अध्यापन करते हैं। जिला भागलपुर का अमरपुर-क्षेत्र [भीखनपुर] शर्मा की जन्मभूमि है। उम्र तीस साल की है। मझोला कद, साँवली सूरत और बड़ी-बड़ी आँखें। निगाहों में दार्शनिक, मुस्कानों में कवि। संकोच की हद नहीं। अपने आप में विभोर।

पूर्वजन्म, तपस्या और संघर्ष—तीन खंड हैं उपन्यास के। कथावस्तु पूरी नहीं है। मुझे बताया गया है कि शिखंडी का यह पहला भाग है, दूसरा भाग आगे प्रकाशित होगा।

शब्द-शिल्प, चित्रमयता और अभिव्यंजना की दृष्टियों से देखने पर मुझे शिखंडी में पर्याप्त रोचकता मिली। कहीं पसीने से लथपथ रिकशा वाला अपनी तगड़ी झांकियाँ देता है [पृ० ६४-६५] तो कहीं खिड़की की फाँक से दीख पड़ने वाले ताड़ के बड़े-बड़े पत्तों पर डूबते सूरज की थकी किरणें बेहोश पड़ी हैं [पृ० ६८] कहीं अंधेरी रात में पास से गुजरती कारों द्वारा रह-रहकर आलोकित गांधी मैदान है [पृ० १६१] तो कहीं गर्म बालुओं की सेज पर क्षीणकाय गंगा लेटी हुई है, पैर सिकोड़-कर लेटी रहने वाली खाँसती बुढ़िया की तरह [पृ० ७८], ऐसे-ऐसे पचासों चित्र होंगे।

उपन्यास का प्रमुख पात्र प्रमोद '४२ के आन्दोलन में गिरफ्तार हुआ। और "दूसरे ही दिन कलक्टर के सन्मुख आत्मसमर्पण करके उसने अपने 'कुकृत्यों' के लिए क्षमा मांग ली थी" न केवल इतना ही, बल्कि साथी विद्रोहियों का सारा हुलिया उसे बता देना पड़ा था। [पृ० २२] शिखंडी की नपुंसकता का यह पहला विस्फोट था! मुजफ्फरपुर और पटना के शहरों में प्रमोद का छात्र-जीवन घोर कष्ट-सहिष्णुता का आख्यान है। अंत में एक बैरिस्टर के यहाँ उसे एक अच्छी ट्युशन मिल गई और निर्वाह सुगम हो गया। अपने आदर्श के बारे में उसने कहा—"जानते हो रणजीत, मैं अपने लिये कैसा आदर्श-जीवन चाहता हूँ! चारों ओर अच्छी-अच्छी किताबें सजी हों, एक कोने में पड़े रेडियों से संगीत का मधुर स्वर धीरे-धीरे निकलता रहे और बीच में आराम कुर्सी पर बैठा हुआ मैं, पढ़ता रहूँ—लिखता रहूँ—सिगरेट सोंटता रहूँ—चाय पीता रहूँ। बस, मुझे और कुछ नहीं चाहिये।" [पृ० १५२] खीझ का हाल यह है कि "गुलाब देखकर उसे तोड़कर सूँघने या हाथ में लिये रहने की अपेक्षा

मसलकर फेंक देने की ही अधिक उत्कट आकांक्षा उसके हृदय में रहती है.........असमय मरा हुआ यौवन, नशा आने के पहले ही बेहोश हो जाने की सी स्थिति, यही इसके कारण हो सकते हैं, हैं भी।" [पृ० १४३-१४४]

मनोमन्थन की यह झाग भी हमारे युग की अन्यतम वास्तविकता है, इस तथ्य को मानना ही होगा। परन्तु जन-सामान्य का मानसशिल्पी इस झाग में अपने को ग़र्क नहीं कर लेगा, निःसन्देह वह बाहर निकल आएगा। मुझे पूर्ण आशा है कि अपनी अगली कृतियों में कामेश्वर कथा-शिल्प के अधिकाधिक चमत्कार हमें उपलब्ध कराएँगे।

अगस्त '५५
पटना—४

नागार्जुन

१

पूर्व जन्म

"जीवन-हीन गति······गति-हीन जीवन"—प्रमोद होठों में बुदबुदाया, और मुस्कान की एक तिर्यक रेखा फैलती हुई ऐंठ कर रह गयी।

वह जा रहा था, पर चल नहीं रहा था; वह दूरी तै कर रहा था, पर स्थिर बैठा था। वह सोच रहा था, उसका जीवन भी यही एक गतिपूर्ण निश्चलता का रूप रहा है, है। उसका यह चलना या रुकना, उसके कारण नहीं हो रहा था—किसी और के कारण, जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं।

गाड़ी का घर्र-घर्र स्वर, अचानक कुछ ऊँचा हुआ; शायद वह कोई पुल पार कर रही थी।

बस, प्रमोद सिर्फ यही तो जान पाता था—सुनता जा रहा था—घर्र-घर्र। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह घर्र-घर्र ही उसे बतला देता था कि वह चल रहा है, बैठा नहीं है। स्टेशन में रुकने पर गाड़ी का ही एक हिचकोला उसे यह बता देता था कि वह रुका है—और सिर्फ कुछ क्षणों के लिए ही रुका है।

उसने खिड़की से बाहर देखा—अगणित तारे टिमटिमा रहे थे, भागते जा रहे थे। वह अष्टमी का घिसा-घिसाया सिंदूरी चाँद भी विपरीत दिशा में भागता जा रहा था—छोटे-छोटे सफेद बादलों को चीरता हुआ दौड़ता जा रहा था; और, अब एक भारी-भरकम मेघ के पेट में विदीर्णक वेदना-सा कुलबुला रहा था।

कुछ दूर तक फैले नीले शून्य में एक बड़ा-सा एकाकी तारा····वैसा ही, जैसा विदा होने के समय किवाड़ी से लगी अनु भाभीके कपोल पर रुका हुआ एक बूँद आँसू।·········और, और उनके दाहिने कंधे पर अपनी ठुड्ढी गड़ा कर स्थिर खड़ी सुनन्दा·········नीली और थकी—जैसे, उसने परिस्थितियों का सारा हालाहल पान कर लेने के बाद भी उफ़ नहीं किया हो; और वह हालाहल, जैसे उसके प्राणों को मथ कर उसके रोम-रोम को ऐंठ रहा हो। उसका चेहरा, अगस्त्य की. उस मुट्ठी की तरह तना, जिसमें तूफान और बाड़व वाला चंचल सागर कस दिया गया हो।·········वह अधिक देर तक उस तरह खड़ी नहीं रह सकी, एक झटके के साथ पीछे भाग गयी। उसकी पलकें, आँखों की राह छलक आने वाली तरंगों के आगे बाँध नहीं बाँध सकीं—इसीलिए शायद····।

"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे"--कितने सुन्दर थे वे कुछ दिन!···· वे कुछ दिन? हाँ, कुछ ही दिन तो! उन दिनों कहाँ समझ पाया था कि उन छोटे-छोटे दिनों और नन्हीं-नन्हीं रातों के पहले एक विशेषण भी लगा है—एकदम छोटा, पर कितना भारी—'कुछ'। 'कुछ' की सीमा में मनुष्य अपने को सीमित नहीं रखना चाहता, यह जानते हुए भी कि सृष्टि की विशालता में से 'कुछ' ही उसके हिस्से पड़ा है। वह पिपासु महत्त्वाकांक्षी उसे 'सब कुछ' में परिणत कर देना चाहता है। जर्जर और निर्बल पड़ कर, वह जब अपने विगत जीवन के 'सब कुछ' की ओर दृष्टिपात करता है, तब उसकी आँखों के सामने बिजली की डोरी में टँगा, बस, एक ही शब्द, चकाचौंध पैदा करता हुआ—झलमलाता

हुआ रह जाता है—'कुछ'।.......काश! वह 'कुछ', 'सब कुछ' बन जाता !!

गाड़ी बेतहाशा भागी जा रही थी, प्रमोद का दिमाग़ भी उसी तेजी से भागा जा रहा था। काश! जीवन में इतनी गति आ पाती कि मनुष्य को अपने अतीत की ओर मुँह मोड़ कर, एक बार भी हसरत-भरी निगाहों से अपने को देखने का अवसर न मिलता। सिर्फ दौड़ते जाना, भागते जाना—आँखें मूँद कर, कान बन्द कर; बिना यह जाने कि पटरियों के पुर्जे खोल दिये गये हैं या उन पर अपना गला रख कोई, तारों के मद्धिम प्रकाश से भी अपने को बचाये रखने के लिए सिमटता जा रहा है।

गाड़ी ने एक तेज सीटी दी, जो विद्युतगति से साँप की तरह रेंगती हुई गायब हो गयी।

आसमान के चाँद और तारों की तरह, पटरियों से दूर के गाँवों के टिमटिमाते इक्के-दुक्के प्रकाश की तरह प्रमोद पीछे की ओर तेजी से भाग रहा था। जैसे, एक कान से घुस कर और दूसरे कान से निकल कर सीटी की वह तेज आवाज, सुई में लगे तागे की पूँछ में टँके किसी हल्के पदार्थ की तरह उसकी चेतना को लिये भाग गयी थी।

कितने रङ्गीन थे उसके वे कुछ दिन !!!

सौ व्यक्तियों का विशाल परिवार—एक सम्मिलित ग्रामीण परिवार; अपने आप में पूर्ण और संतुष्ट। खाने के समय कोई पीढ़ा लेकर बैठा नहीं कि एक के बाद एक पीढ़ा बैठता चला गया; और जब तक रसोइया एक एक थाली परसे, तब तक चार सदस्य पीढ़े पर आसीन; जब तक चार थालियाँ परसे, तब तक पहले की थाली खाली। भाई जुटते, बहनें जुटतीं; एक ओर भाभियाँ जमतीं और सबसे अलग, एक बड़े चौड़े पीढ़े पर बैठ कर चाची रसोइया को उपदेश देती रहतीं।

"अरे; तुम्हें न जाने कितनी बार कहा, थाली में बायीं ओर भात लगाया करो।"

"हाथ इतना बड़ा है कि मांगो इतना तो देगा इत्ता।"

"आम का अचार नहीं काटा न ? न जाने इसे कब अक्ल होगी।"

"ओहो ! कितनी बार कहा, जूठी दाल में घी नहीं डालते; अब डाल ही दिया तो रुकता क्यों है।"

"अरे वह धूमा इतने में थोड़े ही मानेगा, एक चम्मच और दे।"

और सभी भाई-बहन खूब हँसते, छीना-झपटी करते, आँखें बचा कर लुचुक्का मारते। कोई अपने पास बैठी हुई भाभी को कहता—"वह देखो, भैया (आ रहे हैं)"—और जब तक भाभी चौंक कर उधर देखती, तब तक करेले का अचार मुँह में, या चोखे का गोला भात के अंदर छिपा दिया जाता।

कोई बहन ठुनक कर, कान के पिछले हिस्से को रगड़ती हुई कहती—"छोटी अम्मा, और एक चम्मच घी"—कि बस, चाची झल्ला उठतीं।

"घी ज्यादा खायगी तो चर्बी बढ़ जायगी। सब धूमी-धूमी कह कर चिढ़ायगा और अपनी ससुराल में भी हमलोगों को गाली दिलवायगी।"

बहन जरा धीमी आवाज में—इस तरह कि चाची सुन भी लें और यह न समझ लें कि उसे सुनाने को कहा गया है—कहती, "भैय्या को दो चम्मच और हमको एक चम्मच भी नहीं।"

इस पर चाची पानका बीड़ा मुँह में डालती हुई अपनी भारी आवाज में रसोइये को हुक्म दे बैठतीं—"अरे देख भाई; रीं-रीं कर रही है, दे दे न एक चम्मच और।"

उसके बाद जब रसोइया घी का बड़ा-सा कटोरा लिये परोसने आता तो सब के हाथ एक साथ उसमें पहुँच जाते। किसी की कलाई चपचपा उठती, किसी की बाँह पर घी टप से चू जाता और कभी कटोरा ही किसी के द्वारा छीन लिया जाता। उस समय चाची जान-बूझ कर सर लटकाये सुपारी काटने लगतीं, जैसे वह कुछ देख ही नहीं रही हों।

यह भुक्खड़ों-की-सी लूट चाची को खिझाने, रसोइये को तंग करने तथा अपने आनन्द के लिए रोज मचती,—सुबह भी, शाम भी। हाथ धोने के समय फिर एक हड़कंप मचता। कोई किसी की धोती मे मुँह पोंछता, कोई किसी के आँचल में। इस समय विशेषकर भाभियाँ बहुत परेशान हो उठतीं। उठते-उठते ही कोई अपना जूठा दाहिना हाथ किसी भाभी की पीठ पर थप् से बैठा देता, या कोई भाभी उठ नहीं सकने का बहाना करते हुए जूठे हाथ से हो किसी देवर की धोती पकड़ लेती। जब तक देवर महाराज धोती को खुल जाने से बचायें तब तक उनके दोनो गाल पर भात, दाल और दही के पीतिमामिश्रित धवल टीके चमकने लगते।

हाथ धोते ही फिर चाची के सर पर शामत।

"एक टुक सुपारी दो चाची",—पीछे से गर्दन पकड़ कर कोई छोटा भाई रिरियाने लगता।

"एक टुक तो दुश्मन को दिया जाता है।" छोटा टुक पाकर कोई बहन सामने बैठती हुई अपनेपन का परिचय देती।

"एक ठो इलायची भी चाची"—पर्याप्त सुपारी पाकर कोई दूसरा भाई गिड़गिड़ाने लगता।

और जब तक चाची दो चार हाथो पर धरतीं, तब तक सभी टूट पड़ते—कोई पीठ की ओर से, कोई इधर से, कोई उधर से। कोई उन्हें झकझोरता हुआ सुपारी लुचक कर भाग जाता, कोई उन्हें चूमता हुआ ताली पीटता चल देता। इस लुचका-लुचकी में चाची एकदम अस्त-व्यस्त हो जातीं—"मुँहझौंसे, तुमलोगों को कभी अक्ल आयगी भी या नहीं।"

तब तक भाभियाँ चुपचाप पास खड़ी, मुँह में आँचर डाल खिल-खिलाती रहतीं। बाद मे चाची जरा झिड़कती हुई उनसे कहतीं—"ऊँह, देखो तो जरा कैसी सुदमाश बनी खड़ो हैं। बड़े बाप की बेटी

आयीं। लो।" और तब, सबको इतमीनान से सौंफ में मिले सुपारी के टुक तथा इलायचियाँ बाँटतीं।

पिताजी समस्त परिवार के विष्णु थे। परिवार में किस सदस्य का क्या हाल है, कौन कहाँ क्या कर रहा है, कौन कब कहाँ जायगा, किसे क्या करने को कहा गया है, फलाँ पट्टी में कितना मन अनाज हुआ, गन्ने के कोल्हू कहाँ-कहाँ चल रहे हैं—यह सब, सारा हिसाब-किताब उनके हाथों था। वे परिवार के नियामक थे, लोग उन्हें 'मालिक' कह कर पुकारते और बहुधा वे इस शब्द पर व्यंग्य करते हुए कहते—"जो गदहे की तरह खटे वह मालिक" और "दुनिया में व्यक्ति का यदि कोई सबसे बड़ा शोषक है तो वह है उसका परिवार।" उसके बाद बहुत देर तक उनका प्रवचन चलता—फलाँ को फलाँ काम करने को कहा तो फलाँ काम कर आया। उससे कहा, जरा उधर जा ही रहे हो तो रुपया के लिए तकाजा भी कर देना; पर बाबू साहब वहाँ दो शाम ठहर कर जम भी आये पर तकाजा नहीं किया। पूछा, तो कहता है—याद नहीं रहा, भूल गया। और महज इस छोटे-से काम के लिए आज हरकारा भेजना पड़ा।.........ऐसे भी कोई काम चलता है! सब, बालों में चुल्लू भर तेल डाल, मांग फाड़, मजनूँ बने मटरगश्ती करते हैं। मेरे मरने के बाद सब सत्यानाश हो जायगा—कोई सम्हाल ही नहीं सकेगा इस बंजाल को।

उस समय पैर मलता हुआ नाई कह उठता—"मालिक बेकार फिकर करते हैं, सब ठीक हो जायगा, इक़बाल बना रहे।"

पिताजी का स्वभाव कोमलता और कठोरता का अजीब मिश्रण था। उनमें परंपरागत रौब, खान्दानी गरूर और व्यक्तिगत ऐंठ के साथ-साथ थी पिशाच की तरह काम करने की क्षमता, समय पहचानने की मानवोचित दूरदर्शिता और देवतातुल्य प्रेम और सहानुभूति। उनकी भुजाओं की नसें उभरी हुई थीं, मूँछ हमेशा ऐंठी हुई रहती थी, तथा आँखों की

बड़ी-बड़ी पलकें पाकड़ की घनी डार्गों की तरह झुकी हुईं। वे जिस पर पड़ते, बर्बाद कर दम लेते; जिस पर ढलते, उसे किसी बात का कष्ट नहीं होने देते। जो एक बार, एक बार भी उनके अंतर का स्पर्श कर पाया, उसके लिए कोई वस्तु अदेय नहीं थी। प्रमोद ने उन्हें दांत मींच कर दृढ़ निश्चय करते देखा है, मूँछों पर ताव देकर पंजे लड़ाते देखा है और गरीब की आँखों में एक बूँद आँसू देख कर उन्हें मोम की तरह पसीज जाते भी देखा है। वह जब चलते, दुश्मन रास्ते से हट जाते; गाँव के लोग 'मालिक' कह कर श्रद्धावनत होते, और गरीब चरण-रज लेते।

घर के अन्दर भी उनका रूप उतना ही रौबदार था। आँगन में प्रवेश करते ही वह एकबार जोर से खखसते, सभी औरतें बिल्लियों की तरह छिप जातीं। कोई दीवार की आड़ में घूँघट कर लेती, कोई कोठी के पीछे चली जाती और बूढ़ियाँ तक, चिलम उतार, हुक्के को दीवार से लगा चुप हो जातीं। आँगन में बैठे पुरुष-सदस्य आँखें बचाकर बाहर जाने लगते; कोई इस ओसारे से उस ओसारे घूमने लगता, जैसे वह बतला रहा हो कि वह अपनी नवपरिणीता की एक झाँकी पा लेने को वहाँ नहीं जमा बैठा है, बल्कि कोई काम कर रहा है। बच्चे, 'चाचा' और 'बाबा' कहते हुए दौड़ पड़ते और वे किसी को लपक कर गोद में ले लेते, किसी को कंधे पर बिठा अपनी ऐंठी हुई मूँछों से खेलने देते, किसी को उछाल-उछाल कर खूब गुदगुदा देते और किसी के गाल पर अपनी कड़ी दाढ़ी रगड़ रुला देते। छोटे-छोटे बच्चों के समुदाय से घिरे-घिरे वे रसोई-घर पहुँचते और सबको साथ बिठा कर खिलाते। खाने के समय परिहास भी करते चलते—"नुन्नी, देख तो मुन्नी की आँखें कैसी हैं? लिबिर-लिबिर।" इस पर सभी बच्चे हँसने लगते, मुन्नी लजा जाती और अपना जूठा हाथ उठा कर पिताजी को सजा देने उद्यत हो जाती। पिताजी पुचकारते—'न-न, मेरी मुन्नी बेटी बड़ी अच्छी है।

वह देखो, बेला कैसे ताकती है बेटी, उल्लू की तरह; है न?" और मुन्नी खुश होकर अपना सर दो-तीन बार हौले-हौले डुला देती, बेला ठुनक उठती। फिर बेला को खुश करने के लिए सबसे अधिक गोरी प्रमिला को चिढ़ा देते—"बेला की शादी खूब गोरे लड़के से कर देंगे, और प्रमिला की शादी किससे करेंगे बेटी?" बेला हुलस उठती और तपाक् से उत्तर देती—'हर्चा चमार से।" सभी बच्चे खिलखिला कर हँस उठते और प्रमिला रो उठती। डबडब आँखें, बिचके हुए मुँह से दूध में सने भात के दाने गिरते हुए।

फिर चाची आ जातीं, और तब परिवार के आंतरिक मसले उपस्थित होते। फलाँ दुलहन नैहर जाना चाहती हैं, बैसाख में भाई की शादी है; फलाँ दुलहन के सर में दो दिनों से हमेशा दर्द रहा करता है, पैर भारी हैं; और फलाँ दुलहन का कहना है कि बाबूजी इस बार शहर जायँगे तो एक बड़ा-सा ट्रंक लेते आयँगे। मुन्नी की मां और बेला की मां में कल कुछ झपड़ हो गयी, दोनों में बोल-चाल नहीं है। फलाँ जगह संदेश भेजने के लिए फलाँ-फलाँ सामान चाहिये और फलाँ जगह से नाई आया था तो इतनी साड़ियाँ आयीं, इतनी मिठाइयाँ और इतने खाजे।

और अन्त में जब पिताजी हाथ-मुँह धो चुकते तब बीच आँगन में खड़ा हो जाते, चारों ओर बच्चे और पास ही खड़ी चाची। सुपारी के टुक चबाते चलते और एक-एक कर सभी प्रश्नों के उत्तर देते। फलाँ दुलहन नैहर जाना चाहती हैं; तो भाई, हम अपने से ही उनको वहाँ कैसे पहुँचा दें। जब बुलावा आयगा तब विचार किया जायगा। फलाँ दुलहन को चाहिये कि अभी चंद दिन आराम करें। दिन-रात महीन सुई का काम करेंगी तो सर में दर्द होगा ही—आँखों पर कितना जोर पड़ता है। शाम को वैद्यजी को बुला दिया जायगा। और फलाँ दुलहन बड़ा-सा ट्रंक लेकर क्या करेंगी, नैहर से इधर कुछ ज्यादा सामान

आया है क्या ? भाई, समधिन ने मेरे लिए भी तो कुछ जरूर ही भेजा होगा। झगड़ना-बिगड़ना अच्छी बात नहीं है। जहाँ दस हांड़ियाँ रहेंगी, वे ढनमनायँगी ही। हँसते-बोलते सबको एक साथ मिल-जुल कर रहना चाहिये कि कोई इधर रूसे, कोई उधर रूसे।

बस, फिर बच्चों को थपथपाते, दुलराते, पुचकारते; और इसी प्रकार किसी को गोद में ले धीरे-धीरे खड़ाऊँ पटर-पटर करते आँगन से निकल जाते। उसके बाद सभी औरतें बाहर आतीं—जैसे गोशाला का फाटक खोल दिया गया हो। कोई उस पर मजाक कसती, कोई इस पर; और फिर वही शोर, वही हा-हा, वही ही-ही।

पिताजी चौबीस घंटों में सिर्फ दो ही बार आँगन आते और वह भी भोजन के समय।

दूसरे महत्त्वपूर्ण सदस्य बड़े चाचा थे, जिन्हें लोग छोटे मालिक कहा करते और जिनके हाथों खेती-बारी का सारा काम था। इन्हें आँगन आते-जाते शायद ही किसी ने देखा हो। पतला, लंबा, पर इस्पात सा कड़ा और चिमड़ा बदन; छोटी-छोटी पर अंतर को भेद डालने वाली तेज आँखें; छँटी हुई मूँछ, घुटी हुई दाढ़ी और मुड़ा हुआ सर। वह तंबाकू खूब खाते-खिलाते, और उसमें सौंफ के दाने डाला करते। खेती का अनुभव इतना विशाल था कि मिट्टी सूँघ कर बता दिया करते कि कौन जमीन कितनी उपजाऊ है। अच्छे बैल और दुधारी गाय-भैंसों को पहचानने की अद्भुत शक्ति थी उनमें। वह हमेशा बथान पर के ऊँचे-चौड़े मचान पर बैठे रहते और वहीं से इतनी बड़ी गृहस्थी पर निगरानी रखते। सुबह उठते ही, इसे सानी दो, उसे दूहो; इस लाद में खल्ली डालो, उस लाद में दाने—यही क्रम चलता। दोपहर की चिलचिलाती धूप में मचान पर चढ़, आँखों पर तलहथी की छाया देकर दूर खेतों तक देखते और पता लगा लेते कि हल बैठे हैं—वह नहीं रहे। एक बार हलवाहों को पुकारते और खड़े हल चल पड़ते। कुछ क्षणों तक उसी

प्रकार खड़ा-खड़ा देखते, फिर अँगोछे से हवा करते हुए पीतल की ठण्ढी छाँह में लेट रहते।

बड़े चाचा परिवार के सबसे बड़े कमखर्चा व्यक्ति थे। उनकी आवश्यकताएँ अत्यधिक न्यून थीं। दो साल के लिए उन्हें सिर्फ बिना किनारे वाली दो धोतियाँ चाहिये और दो बड़े-बड़े गमछे। अपने कपड़े धोबियों को कभी नहीं देते। स्नान के समय पत्थर के पाट पर दोनों पैरों से साठ डिग्री का कोण बना लेते, जोर-जोर से धोती बजारते, पानी देकर एड़ियों से रगड़ते चलते—मैल कटती जाती। फिर मचान के पास वाली कोठरी में अलगनी पर उसे सूखने देते। उनका कहना था—धोती, धूप में सूखने पर कमजोर हो जाया करती है।

लड़के उनसे बहुत डरा करते—इसलिए नहीं कि वे डांटते या फटकारते थे, बल्कि इसलिए कि वह उनसे कुछ बोलते ही नहीं। नियम था कि सभी लड़के, सुबह-सुबह एक-एक गिलास लेकर बथान पर पहुँचा करें और वहाँ दूध पी लेने के बाद ही पाठशाला आदि जहाँ जाना हो, जायँ। चाचा, चुपचाप चौकी पर बैठते और गिलास भरते चलते—बिना किसीसे दुलार या प्यार का कोई शब्द कहे। पर, ठीक इसके विपरीत उन्हें जानवरों से बेहद प्रेम था। किसी ने उन्हें कभी किसी बच्चे को गोद में लेते नहीं देखा,—अपनी संतान तक को नहीं; पर स्नान के पूर्व प्रतिदिन बथान पर उछलते हुए बछड़ों को गोद में चिपटा लेते, उनके बालों से कीड़े निकालते। एक बार कोई भूटिया घूमता-घामता पहुँच गया था, उससे उन्होंने एक पिल्ला मोल ले लिया था। वह बढ़ कर पूरा शेर का बच्चा निकला, क्या मजाल कि कोई रात में बथान में घुस जाय। वह हमेशा उनके साथ रहता, उसके खाने-पीने का प्रबन्ध स्वयं अपने हाथों करते।

उनके पास एक छोटी-सी घोड़ी भी थी—उनकी अपनी सम्पत्ति, उस पर किसी का अधिकार नहीं था। जहाँ सूरज डूबने को होता कि

वह उस घोड़ी पर, जिसे सभी नट्टी घोड़ी कहा करते—सवार होते और खेतों का चक्कर लगा आते। उनका कहना था—खेत अपने मालिकों को पहचानते हैं, और जिस दिन मालिक खेत पर नहीं जाता, उस दिन वे रात-भर रोया करते हैं। नट्टी को कभी किसी ने दौड़ते नहीं देखा, एक बँधी हुई चाल में वह चला करती। न कोई लगाम, न कोई ज़ीन—जब उसे मोड़ना ही होता तो चाचा कान पकड़ कर उसे इशारा देते और वह चिर-परिचित राह पर चल पड़ती। वह नट्टी उनके साथ इस तरह बँधी थी कि यदि वह बथान पर नहीं रही तो यह अनुमान लगा लिया जाता कि चाचा खेत पर हैं और यदि वह वहाँ रही तो यह आशंका ही नहीं की जा सकती थी कि चाचा बथान पर नहीं हो।

घाघ और डाक के पद उनके होठों पर ही रहते। नीलकंठ, यदि दक्षिण-उत्तर बैठ जाता तो वे तुरत कोई घाघ का पद पढ़ देते जिससे अपशकुन का अंदाज लग जाता और यदि जेठ में बादल घिरते तो डाक का कोई सोरठा उन्हें बतला देता कि उस साल खेती की क्या अवस्था होगी। इन दोनों कवियों में उनकी इतनी अपार श्रद्धा थी कि वे तुलसीदास तक को उनके समकक्ष जगह नहीं देना चाहते थे। एक बार, अषाढ़ बीत जाने पर भी वर्षा नहीं हुई। कुछ नवयुवकों ने यह प्रस्ताव रखा कि रामायण का अखंड अष्टयाम संकीर्त्तन हो तो वर्षा होगी। चंदे के लिए ये युवक द्वार पर पहुँचे ही थे कि न जाने किधर से चाचा आ गये। सारी बात सुन लेने पर अपनी तलहथी पर के तंबाकू पर तालियाँ देते हुए उन्होंने कहा—"हो रघु, सुनो! तुम रामायण पढ़ो या वेद, और पढ़ो कि न पढ़ो—वर्षा आज या कल होगी, और ऐसी अंधाझोर होगी कि आँगन में नाव चलेगी। अष्टयाम को छोड़ो, जाओ छप्पर छरियाओ।"

चाचा का यह फतवा रघु को बड़ा अखर गया, बोला—"चाचा, तुम तो ज्योतिषी की तरह बातें करते हो। रोज-रोज लाल-पियर अकास को नहीं देखते। अष्टयाम न होगा तो, हम कह देते हैं—कभी वर्षा नहीं होगी।"

चाचा ने छूटते ही जवाब दिया—"रामायण पढ़ने से वर्षा नहीं होती है। पूर्णिमा को रात आकाश देखा था तुमने? कवि ने कहा है—

असाढ़-मास पूनो दिवस बादर घेरै चंद।

तो भडरी जोसी कहै, होवे परमानन्द।

और आज ही हम और कन्हाई ने ढेले पर चील्ह को बोलते देखा है; घाघ ने लिखा है—

ढेले पर जब चील्ह बोलै, गली-गली में पानी डोले।

दो-दो प्रमाण जुट गये हैं। आज नहीं तो कल वर्षा होगी जरूर।"

और आश्चर्य! उस रात, भोर में मेघ जुटने लगे और लगातार एक सप्ताह तक इतनी वर्षा हुई कि कितने छप्पर टूट गये, कितने घर गिर गये। और सबसे महान् आश्चर्य तो यह था कि रघु का घर भी दीवार गल जाने के कारण ढह गया था।

परिवार के तीसरे महत्त्वपूर्ण सदस्य थे छोटे चाचा, जिन्हें सभी—और विशेष कर खेतिहर मजदूर 'बच्चू मालिक' कह कर पुकारते। वे परिवार के शिव थे—अवढर भी, प्रलयंकर भी। उनका हृदय बड़ा साफ था पर इच्छाएँ पाप से सराबोर। खेतिहर मजदूरों पर उनकी विशेष कृपा रहती थी। दिन-भर में यदि कोई काम उन्हें करना पड़ता तो यही कि जहाँ हल चल रहे हों, वहाँ समय पर हलवाहों के लिए जलपान और कलेवा पहुँचा देना; और जब शाम को सभी हल धरने आवें तो प्रत्येक को सेर भर अनाज मजदूरी के दे देना। बड़े चाचा और नट्टी घोड़ी में जो सम्बन्ध था, वही छोटे चाचा और उनकी बी-एस-ए सायकिल में। सायकिल चलाने में वे माहिर थे, सामने कलेवा और जलपान बाँध लेते, पीछे पानी का एक भरा कलश बायें हाथ से थामे रहते और दाहिने हाथ से हैंडल पकड़ खेतों के पतले से पतले मेड़ पर भी इतमीनान से चलाये जाते। वे अपनी सायकिल को बहुधा 'चेतक' कह कर बड़ाई दिया करते थे।

मजदूर उनसे बहुत खुश रहते। उन्हीं के आग्रह से जलपान में सत्तू के बदले रोटियाँ और नमक-मिर्च के बदले गुड़ के ढेले मिलने लगे और शाम में मजदूरी लेने के समय थोड़ा रीं-रीं करने से ही सेर के बदले डेढ़ सेर अनाज मिल जाने लगा। वे तुलसीदास के इस कथन के पूरे हिमायती थे कि 'बिनु भय होहिं न प्रीति'। मजदूर उनसे डरते भी खूब थे, वे जानते थे कि उनके जरा-सा क्रुद्ध होने पर उनकी झोपड़ियाँ उजाड़ दी जा सकती हैं, उन्हें मार-मार कर गाँव से बाहर भगा दिया जा सकता है।

उनमें एक बहुत बड़ा दोष था। खेत के मेड़ों पर जो घास छीलती हुई नजर आती, वह दिन-दो पहर ईख में पटक दी जाती; अरहर के खेतों में रस बरसा करता, बागीचे में वसंत इतराया करता। चाचा का दावा था कि उन्होंने किसी के साथ कभी जबर्दस्ती नहीं की, कई तो स्वेच्छा से ही दोपहर रात उन्हें अपने घर के पिछुवारे बुलाती हैं और कई सिर्फ एक बार कहने से ही राजी हो गयी हैं। जिस किसी के कान में चाँदी के झुमके हों या बदन पर अच्छी साड़ी—यह समझ लिया जाता कि बच्चू मालिक का प्रताप है। अपने इस सुकृत्य के पक्ष में और तर्कों के साथ एक तर्क वह यह भी दिया करते कि आज तक किसी लड़की ने कोई हल्ला नहीं किया। फिर यह बात कैसे प्रसिद्धि पा गई, यह कोई नहीं जानता था।

प्रमोद को याद आ रहा है—एक बार उसने छोटे चाचा को कहीं यह कहते सुना था—"मैं नहीं जानता था कि मेरे ऐसा करने से चुल्लू भर पानी बह जाने के अलावा भी कुछ हो जाया करता है। सो, एक दिन चमर-टोली की ओर से सायकिल पर आ रहा था कि सुगिया, एक लुचपुच-सा गोरा बच्चा लिये सामने आ गयी। मैंने सायकिल रोक दी तो वह बोली—'बच्चू मालिक, पहचानते हो ? पछियारी बागीचा याद है ?'—और यह कह कर बच्चा मेरे हाथों में थमाने लगी। मैं 'धत्त तेरी'

कहता हुआ तेजी से पैडल मारता हुआ भाग आया। सोचता रहा—तब तो जरूर ही पाँच सौ बच्चे इस तरह न जाने कहाँ-कहाँ शोर मचा रहे होंगे।"

इनका प्रलयंकर रूप भी कम प्रचण्ड नहीं था। प्रमोद को हर्चा का वह चेहरा याद आ रहा है जिसने उसके मस्तिष्क को कस कर झकझोर दिया था, और आज जो उसके सामाजिक विचार हैं—उनके निर्माण में जिसकी सूनी आँखों के दैन्यपूर्ण रोदन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। प्रमोद का एक हलवाहा था—नाम था हर्चा। एक दिन चाचा ने उसे लड़की काट कर लाने कहा था शायद। उसी दिन, जब वह कुल्हाड़ी लेने अपने घर गया तो उसे कुछ ठण्ढक हुई और शाम होते-होते बुखार चढ़ आया। दो दिनों तक वह अपनी झोपड़ी में ही पड़ा रहा, गलती उससे इतनी ही हुई कि उसने अपनी बीबी या बहन द्वारा बच्चू मालिक को इसकी खबर नहीं दी। तीसरे दिन चाचा खुद सायकिल पर उसके घर पहुँचे और उसे घसीटते हुए अपने दरवाजे पर ले आये। पिताजी शहर गये थे, बड़े चाचा बच्चों को दूध बाँट रहे थे। हर्चा बुखार से बेतरह हाँफ रहा था और ऐसा लगता था कि अब मरा—तब मरा। छोटे चाचा उसे गंदी गालियाँ दे रहे थे और वह जमीन पर हाथ जोड़े पड़ा था। लोगों ने मना किया, पर चाचा ने जिद की—"नहीं, इसे तो आज लकड़ी काट कर लानी ही पड़ेगी, नहीं तो चमड़ी उधेड़ लूँगा।" हर्चा के मुँह से अचानक निकल पड़ा—'जब आप मारने पर तुल ही गये हैं मालिक, तो लीजिये मैं चला।' इतना सुनना था कि चाचा के तलबे की लहर मगज पर चढ़ी और जब तक छोटे चाचा 'हाँ-हाँ' करें लोग छुड़ाने दौड़ें, तब तक उन्होंने बेंत की लाठी से उसे गाय-बैल की तरह धुन दिया। हर्चा मुँह बाकर जमीन पर अचेत पड़ा था, आँखें पथरा गयी थीं।........

हर्चा के बाबा ने प्रमोद के पर बाबा से पैंतीस रुपया कर्ज लिया था

और हलवाही का पट्टा लिख दिया था। इन्हीं पैंतीस टिकलियों के सूद में हर्चा का बाबा, बाप, वह स्वयं, और इतना ही नहीं; उसका बेटा, पोता, परपोता—आदि सभी इस परिवार के पुश्त-दर-पुश्त तक क्रीतदास हो गये। वह हल जोतेगा, गोबर उठायगा, लकड़ी काट कर लायगा और दिन भर की मजदूरी पाअगा। नहीं काम करेगा तो मजदूरी नहीं मिलेगी, बीमार पड़ेगा तो दवा नहीं दी जायगी, नंगा रहेगा पर कपड़े नहीं दिये जायँगे। पर वह पैंतीस रुपया, ज्यों-का-त्यों पड़ा रहेगा—अमृत पाकर। काल, दूरी, दिक्कत और मौत तक भी उसका क्षय नहीं कर सकती। यदि निःसंतान मर गया तो उस रकम में ही उसकी छोटी-छोटी सारी संपत्ति ज़ब्त। प्रमोद ने जब हर्चा की इस दासता की कहानी सुनी थी, तब उसका अंतर विद्रोह कर उठा था, और उस समय वह न जाने क्या-क्या सोच गया था।

आखिर सभी पापों का वह पहाड़ उसके घर पर गिरा और एक चौड़े टीले पर खड़ी उसकी इमारत धूल-धूसरित होकर ही रही।

गाड़ी एक सुरंग से होकर गुजर रही थी—एक तूफान की-सी आवाज हो रही थी। सुरंग की पथरीली काली दीवार भागती जा रही थी और हवा का तापमान अचानक बढ़ गया था। प्रमोद सोच रहा था—इन अत्याचारों का अंत होगा, इस पाशविकता की बेहद हद भी एक दिन समाप्त होगी, और देश के अगणित पीड़ित पुतलों की कराह में एक रोज ये सारी शृंखलाएँ जलकर भस्मीभूत हो जायँगी।

सुरंग पीछे छूट चुकी थी। प्रमोद के सामने वही मुक्त आकाश, वही तारों-भरी रजनी विहँस रही थी। बीच आसमान को चीरती हुई स्वर्गंगा और भी धवल पड़ गयी थी, मानों नीली घाटियों के बीच समतल भूमि पर दूध का झरना रेंग रहा हो।

प्रमोद सोचता जा रहा था—मनुष्य के सभी भावों और अनुभवों का जन्मस्थान दुर्बलता है। सबलों के भी भाव उसके दुर्बल विकारों के प्रति-

बिम्ब हैं। जिस प्रकार पतले बासों में एक लचक होती है, उसी प्रकार दुर्बल मनुष्यों में एक कोमलता होती है, जो सभी भावों को जन्म देती है। क्रांति कोई नारा नहीं, बल्कि पीड़ितों, त्रसितों और दुर्बलों के भावुक हृदय—कोमल अंतर का एक भयंकर विस्फोट है। जिस समय हम किसी सामाजिक अंग को दुर्बल बना कर उसका शोषण करते रहना चाहते हैं, अज्ञान में उसी समय अप्रत्यक्ष रूप से हम उसे सुइयाँ चुभोते हैं। यदि हमें अपने रूप को सुन्दर और सुघड़ रखना है तो हमें चाहिये कि अपने प्रत्येक अंग को विकसित और पुष्ट होने दें। एक के लिए दूसरे को जहाँ दुर्बल बनाने का प्रयत्न किया गया, हमारा ही रूप विकृत हो जायगा, हमारी भी मिट्टी पलीद होगी—हम अपने ही हाथों अपनी कब्र खोदेंगे...... वैषम्य, अशांति का जनक है, भूख और प्रताड़ना क्रांति की जननी। अशांति और क्रांति के जननी-जनक झोपड़ियों में बस रहे हैं, देश के अगणित हच्चीओं के अंतर में करवटें बदल रहे हैं—उनकी सूनी आँखों के कोटरों से झाँक रहे हैं। इन करवटों में भूकंप की शक्ति, तूफान का तेज और आंधियों का प्रकोप है।......पर, ये करवटें हनुमान की तरह हैं, इन्हें अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं। इसके लिए एक जामवंत चाहिये—मतिधीर और सुजान।........और तब?—प्रमोद होठों में बुदबुदाया—"को नहीं जानत है जग में कपि संकट-मोचन नाम तिहारो।"

प्रमोद के सामने, १६४२ की राजनीतिक अंगड़ाई के अगणित चित्र घूम गये।............ओह! मानव-अंतर के किस कोने में इतना भयंकर विस्फोटक द्रव्य पड़ा रहता है!

वह बलराम! कितना चालाक, पर कितना क्रोधी और निर्मम! गठे बदन वाले देहाती नवजवानों का सरदार, और गुलेल चलाने में अद्वितीय। प्रमोद के मुँह से शहर की कहानियाँ सुनकर, उत्साह और जोश से किस प्रकार उसकी छाती चौड़ी हो गयी थी, और उसने कितने जोर से 'महात्मा गांधी की जय' का नारा थाने पर लगाया था—जैसे पिंजरे के

लोह के डंटों को दांतो से काटता हुआ सिंह दहाड़ उठा हो। पुलिस, उसके सामने भींगी बिल्ली बनी खड़ी थी और दारोगा, रह-रह कर थूक फेंक कर फिर चाटता था। उस समय बलराम का वह विजयोन्मत्त अट्टहास, जैसे आकाश में एक साथ सहस्रों बिजलियाँ कड़क उठी हों।........

यह वही अट्टहास था जो सूखे और पतले हाथ-पैर में बिजली की धारा दौड़ा कर उन्हें इसलिए प्रेरित करता है कि वे हांड़ी-सदृश माथे को दबोच कर अपने पंजों से कस कर मरोर दें। गाड़ी में बैठे प्रमोद के सारे रोएँ खड़े हो गये।

बलराम कहता था—"दारोगा को मत छोड़ो प्रमोद! साला साँप है, जहर की पुड़िया है।" प्रमोद ने तर्क किया था—"वह भी तो एक हिन्दुस्तानी ही है बलराम, और कौन हिन्दुस्तानी आजाद होना नहीं चाहता। मत मारो, गद्दार नहीं निकलेगा।" पर, कितना सच्चा था उसका यह कथन—"नहीं-नहीं, ये साले बड़े हरामी होते हैं। यदि गांधी जी भी एक दिन दारोगाई कर लें, और फिर तुलसी-ताम्बा लेकर यह विश्वास दिलायें कि उन्होंने किसी औरत को बेइज्जत नहीं किया है, या किसी गरीब का खून नहीं चूसा है—तो भी मैं विश्वास न करूँगा प्रमोद।"

बलराम का कहना सोलह आने सच निकला। रात भर पटरियाँ उखाड़ने, लड़ाई में जाने वाले सामान आदि लूटने के बाद स्टेशन की होली फूँक कर, जब सारा दल—चूर-चूर गाँव की ओर लौटा जा रहा था कि खबर मिली—टामियों ने रात में ही गांव घेर लिया है, और उन्हें शक है कि दल गाँव में ही छिपा बैठा है। दारोगा साथ है। सब गंगा-पार हो गये और जब पौ फट रही थी हमने गाँव में फायरों की आवाज सुनी। बलराम ने दाँत मींचते हुए प्रण किया था—"हरामी को जिन्दा जला दूँगा। और तब एक गंभीर निराशा के स्वर में वह प्रस्तर-हृदय

बोला था—"यह देश साला कभी आजाद नहीं होगा—कभी आजाद नहीं होगा प्रमोद।"

प्रमोद और बलराम के सर के लिए पाँच-पाँच हजार का पुरस्कार उस दारोगा ने घोषित किया था, जिसने एक दिन भगवान का नाम लेकर अपना थूक आप चाटा था।

बलराम तीन-चार दिनों तक गायब रहा—हम गाँव-गाँव धूल फाँकते रहे। थाने में टामियों का जमघट था, उस होकर आना-जाना मना था और सारा इलाका, उनकी नृशंसताओं के नंगा नाच से तबाह था। दिन-दहाड़े औरतें बेइज्जत की जा रही थीं, बूढ़ों को कुन्दे से मार-मार कर अधमरा कर दिया जाता था और बच्चों को संगीनों में भोंक हवा में नचाया जाता था। प्रमोद, ऐसी कहानियाँ सुनकर माथा थाम कर बैठ जाता। ओह! स्वतंत्रता का मूल्य कितना भारी चुकाना पड़ता है।

बलराम लौटा, मानों शक्ति लौट आयी—इस दृढ़ निश्चय के साथ कि उस रात थाने पर धावा बोला जायगा ही—चाहे जो हो। वह पूरा पता ले आया था, थाने में सिर्फ एक दर्जन टॉमी थे—शेष दूसरी जगह दूर भेज दिये गये थे। वह दिन भर बेचैन रहा, ऐसा मालूम पड़ता था कि उस प्रस्तर-हृदय की इस्पाती शिराओं में कोई तूफान गरज रहा हो। कार्यक्रम तैयार था।

निश्चित समय, ईख के खेतों से पचास नवजवान निकले। चुपचाप बिलाड़ों की तरह पैर दाबे थाने की ओर बढ़े। अमावस का अंधकार छाया था और प्रलय के पूर्व का गंभीर सन्नाटा फैला था। रह-रहकर गीदड़ बोल उठते थे और ठण्ढी पछुवा हवा सुई की तरह चुभ रही थी। थाना घेर लिया गया।

सामने के खुले मैदान में, पास के वृक्ष में लटकी लालटेन की प्रकाश में बारह संगीन-लगी बंदूकें पिरामिड की तरह सजी दीख रही थीं, और एक टॉमी कंधे पर बंदूक ले, अपने भारी बूटों को बजारता हुआ चहल-

कदमी कर रहा था। वह थोड़ा भी रुकता कि दल के अच्छे-अच्छे चार निशाना-बाज, उसके शरीर को भुँजरी-भुँजरी कर डालने के लिए संधान करने लगते। बलराम से प्रमोद ने कहा था—"और वे बारह बंदूकें उस्ताद? पहले उन पर ही कब्जा किया जाय।"

"चुप, वे एकदम खाली हैं।"

प्रमोद को आश्चर्य होता था उस निपट देहाती की बुद्धि पर। टॉमी, एक जगह रुककर अपनी बंदूक को सामने रख सिगरेट सुलगा रहा था। पछुआ हवा का झोंका आया और सलाई जलते-जलते बुझ गयी। उसने फिर प्रयत्न किया, पर सिगरेट नहीं जली। वह बंदूक धरती पर रख बैठ गया, और ठेहुनों की आड़ में सलाई जलाने लगा। दियासलाई भुक् से जली कि एक साथ चार 'धाँय'। वह वहीं ढेर हो गया। बलराम, चीते की तरह उछला और उसकी बंदूक ले, फिर पिरामिड के मुड़ेरे को अपने दोनों पंजों में दबा आड़ में चला गया। यह सारा काम इतनी शीघ्रता में हुआ कि स्वयं दल के ही लोग अपनी सफलता पर अवाक् थे। हड़बड़ा कर टॉमी और दारोगा, किवाड़ी खोल बाहर निकले कि पछुआ के तेज झोंकों के साथ आवाज उनके कानों पर बजरी—"हैण्डस अप! चुपचाप हाथ ऊपर उठाकर चलो।" पीछे पचीस भल्लों की नोंक उनकी पीठों पर सटी थीं। टार्च लेकर ओसारा-ओसारा, कोठरी-कोठरी, कोना-कोना ढूँढ़ लिया गया, और पन्द्रह मिनट के अंदर चौदह आदमी रस्सों में बँधे खड़े थे।

बलराम ने दारोगा का बाल, कस कर भर मुट्ठी पकड़ा, और दोनों गालों पर चपतें जमायीं। उसकी मूक प्रचंडता देखने लायक थी। उसने कलम आम के पतले पेड़ से दारोगा को जंजीर से बाँधा—इस तरह कस कर कि उसकी नसें टूट गयी होंगी। फिर अरहर की सूखी डंठलों और ईख के सूखे पत्तों का अम्बार, चारों ओर खड़ा कर दिया गया। थाने में पड़ा सारा किरासन तेल उझल दिया गया और स्वयं बलराम ने, टैंट से

मलाई निकाल कर पहले अपनी बीड़ी सुलगायी और फिर अम्बार में सटा दी। "हरामी-साला-गद्दार"—उसने कहा, और काँख-तले अपनी मुट्ठियों को कसते हुए, डंठलों और पत्तों को धधकते देखता रहा। दारोगा चीख रहा था, अब भी बचने की लालसा में माफी माँग रहा था, पर बलराम मंद-मंद उसकी चिता के प्रकाश में मुस्कुरा रहा था, बीड़ी सोंट रहा था।

प्रमोद को याद आ रहा है, वह उस दृश्य को देख नहीं सका था; आँखें मूँद सर पर हाथ रख बैठ गया था और वस्तुतः रो पड़ा था। वह कल्पना कर रहा था—जलती हुई डंठलों और धधकते हुए पत्तों के बीच छटपटाते हुए उस दारोगा की पीड़ा की—उसकी छटपटाहट की। वह मूर्च्छित होने को ही था कि उस निःस्तब्ध रात्रि को झकझोर देने वाला बलराम का अट्टहास गूँज उठा।......उसकी जब आँखें खुलीं, तो दारोगा का चीत्कार बंद था, आम का पेड़ धुआँ से काला पड़ गया था, उसकी पत्तियाँ झुलस गयी थीं, डंठलों की राख चिनगारियों को अंचल में छिपाये पड़ी थी और जंजीर में बँधी दारोगा की निष्प्राण लाश इस तरह लटकी थी, जैसे कबूतर को झुलसा कर किसी काँटी से लटका दिया गया हो।

प्रमोद को पीछे पता लगा—उन सभी टॉमियों को, बलराम ने ईख के खेत में ले जाकर गड़ासे से कुट्टी-कुट्टी काट डाला और बोरों में बंद कर पतित-पावनी गंगा में भँसा दिया।

गाड़ी हहराती हुई तीव्र गति से भागती चली जा रही थी—भागती चली जा रही थी। प्रमोद का रोम-रोम खड़ा हो गया था और वह पसीने से तर था। उसकी छाती धक्-धक् कर रही थी और उसकी आँखें; अपलक-निर्निमेष उन घटनाओं को देख रही थीं। उसने खिड़की पर से अपना सर हटा लिया और कुछ पीछे सरक आँखें मूँद बैठ रहा। आह! कैसा भयानक भूकंप था! वह क्या जानता था कि ठीक उसी समय उन्हीं टॉमियों के साथी उसके घर में भी आग लगा रहे थे—उसका

घर ढाहा जा रहा था। दारोगा की होली के साथ-साथ उसके पिता के अरमानों की भी होली जलायी जा रही थी; और यह टॉमियों की कुट्टी नहीं, बल्कि परिवार के अनेक सदस्यों के सुनहले सपने, गला टीप-टीप कर काल के प्रवाह में फेंके जा रहे थे।

एक सप्ताह बाद ही खबर लगी—टॉमियों और बलूचियों ने उसके घर को बारूद से उड़ा दिया था, परिवार के सदस्यों को बेतरह पीटा था, कई बच्चों को कुएँ में फेंक दिया था और सारा सामान लूट लिया था। जो कल भरा-पूरा था, वह खंडहर बना डाला गया था, जो कल खुशहाल थे, उनके पास एक गमछा तक नहीं—एक दाना अनाज तक नहीं।...... प्रमोद उस दिन सो नहीं सका था, रातभर करवटें बदलता रहा था—यह सत्यानाश सिर्फ उसके कारण ही तो!

दूसरे-तीसरे दिन फिर खबर लगी—मवेशियों को नीलाम पर चढ़ा दिया गया है, घर का बचा-खुचा सामान थाना पहुँचवा दिया गया है और परिवार के सभी लोग तितर-बितर हो गये हैं। सारे गाँव पर पुलिस का पहरा है।

फिर कुछ दिनों बाद खबर लगी—खलिहान में आग लगा दी गयी है, ईख के खेत जला कर खाक कर दिये गये हैं और गाँव की चारों ओर ऐसे दृश्य उपस्थित हो गये हैं, मानों कल तक यहाँ कोई बड़ा भारी यज्ञ हो रहा था, और राख-भरे हवनकुण्ड उस गौरव के निशानीस्वरूप शेष बच रहे हों।

और प्रमोद उसी क्षण शहर के लिए रवाना हो गया था—चुपचाप। उसे लगा था, जैसे लोहे को गर्म कर-करके उस पर लगातार हथौड़े मारे जा रहे हों। उसके मस्तिष्क की सभी शिराएँ इस तरह मसमसा गयी थीं, जैसे किसी पुराने जाल को चारों कोनों से पकड़, अपनी-अपनी तरफ कस कर खींच लिया गया हो और उसके सारे तारोपोद बिखर गये हों। वह रास्ता-भर यह महसूस करता रहा कि कोई मजबूत पंजा, उसके हृदय

को उमेठ-उमेठ कर इस तरह निचोड़ रहा था जैसे कोई भींगे अँगोछे को निचोड़ता है।

दूसरे ही दिन कलक्टर के सम्मुख आत्मसमर्पण कर उसने अपने 'कुकृत्यों' के लिए क्षमा माँग ली थी और बलराम तथा उसके दल की सारी हुलिया उसे बता देनी पड़ी थी। वह महसूस कर रहा था—जब बलराम को पता लगा होगा तब वह जोर से थूक फेंकते हुए जरूर बोला होगा—"साला हिजड़ा है, हरामी!", और न जाने ऐसी कितनी ही गालियाँ.........कितने कष्टप्रद थे जेल के वे दिन! एक ही मास के अन्दर उसका सिर्फ कंकाल शेष रह गया था—हाँ कंकाल, शरीर का; आत्मा तो उसी दिन मर गयी थी; जिस दिन उसने आत्मसमर्पण किया था।

अनुभाभी के पिता की कोशिश-पैरवी और सिफारिशों के बाद वह मुक्त कर दिया गया था। पुलिस-सुपेरिण्टेण्डेण्ट की रोबीली वर्दी और अपनी तेज आवाज में उन्होंने कहा था—"प्रमोद, जाओ और देखो घर पर—तुमने क्या किया है!" और उन्होंने अपने होठों को कस कर बलात् बंद कर लिया था, उनकी आँखें सिक्त हो गयी थीं; और प्रमोद को लगा था, जैसे उनकी उठती-बैठती तनी नाक से अभिशाप के गर्म निःश्वास निकल रहे हों।

सूर्य क्रमशः प्रखर-तर होता हुआ जब आकाश में चढ़ता जा रहा था, तब प्रमोद ग्लानि में डूबा हुआ सर लटकाये जेल से बाहर निकला था। बड़ा चचेरा भाई अलख, उसे थामे-थामे दूकान ले आया था। अलख के कपड़े गंदे और फटे थे, और उसका चेहरा इन्हीं चंद महीनों में चूसे हुए नींबू की तरह पिचक गया था। कपड़े की अपनी बड़ी सजी-सजायी जिस दुकान में वह गद्दी पर बैठा-बैठा हजारों का व्यापार करता था, वहाँ चन्द टूटी-फूटी आल्मारियाँ अंग्रेजी राज के अत्याचारों की कहानी कह रही थीं। अलख, वहाँ फूट-फूट कर बुक्का फाड़ रो पड़ा

था—जैसे शाम से घुमड़ते हुए बादल दोपहर रात के सन्नाटे में चुपचाप बरस पड़े हों।........"ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में!" पापी! हाँ, पापी!!

आह! वह प्रताड़णा! उसे लगता था कि रह-रह कर जैसे कोई उसके दिमाग में कीलें ठोंक रहा हो, उसके मस्तिष्क की नसों को उँगली में उमेठ रबर की तरह खींच रहा हो। विज्ञान, प्रथम वर्ष का विद्यार्थी वह, आह! कैसे-कैसे अरमान थे! इच्छा होती थी कि आत्महत्या कर ले, जहर खा ले, या गंगा में डूब मरे। पर हिजड़ा! हिजड़ा, हिजड़ेपन का काम भी बहादुरी के साथ नहीं कर सकता।

तूफान गया, महामारी आयी। अलख, पहला शिकार था; फिर मां मरीं, चाचा मरे और एक-एक कर परिवार के दस आदमी चल बसे। ऐसा मालूम पड़ता था कि आकाश में एक छिद्र हो गया है, जिस होकर शनि की दृष्टि मेरे—और सिर्फ मेरे ही घर पर केन्द्रित होकर सारे परिवार को जला रही है। शंकर का तीसरा नेत्र खुला, पर उसकी आग सिर्फ एक परिवार तक ही संकुचित होकर रह गयी।

माँ! तड़प-तड़प कर मर गयी, एक घूँट पानी के बिना—एक बूँद दवा के बिना। प्रमोद देखता है—शोक से संतप्त मां, दुखों से व्याकुल पिता, और आकाश में चक्कर लगाता हुआ एक पक्षी-दम्पति, जिसका घोंसला निर्मम हाथों द्वारा उजाड़ दिया गया था—और जिसमें उसके जीवन-भर के अरमान खून में लथपथ निष्प्राण पड़े थे।

प्रमोद, जब उस दिन पहली बार लक्ष्यहीन विहंगम की तरह, महीनों तक इधर-उधर निरुद्देश्य घूमते रहने के पश्चात् घर पहुँचा था, तब संध्या हो चुकी थी। उसने पिता को प्रणाम किया, वे मौन थे। सामने खंडहर पड़ा था और ईंटों के ढेर में रह-रह कर भगजोगिनियाँ चमक रही थीं। तीन शाम के बाद घर का चूल्हा जला था क्योंकि उसी

दिन दूसरी बार, एक साथ पचास बीघा जमीन बहुत ही सस्ते मूल्य पर बेच डाली गयी थी।

दोपहर रात, छोटे चाचा के खाँसने की आवाज दूर से आ रही थी, प्रमोद की आखें लग नहीं रही थीं....कि अचानक जोर का एक ठहाका सुनायी पड़ा, निर्मम और सूखा अट्टहास। प्रमोद उठ कर बाहर आया, पिताजी चुपचाप खाट पर बैठे थे। वह कुछ पूछना ही चाह रहा था कि उन्होंने फिर वैसा ही एक जोर का ठहाका लगाया—प्रमोद का रोम-रोम काँप गया था।

पास के तालवृक्ष के बड़े-बड़े पत्तों के बीच एक खड़खड़ाहट हुई और चील का जोड़ा, चीं-चीं करता हुआ उड़ा, दूर तक चक्कर लगा कर फिर उसी वृक्ष पर बैठ रहा।....

यह घाव सूख भी नहीं पाया था कि दूसरी मर्माहत चोट लगी—इस हवनकुण्ड की अन्तिम स्वाहा, इस नाश-यज्ञ की अन्तिम आहुति—भैया की मृत्यु? या आत्महत्या?....यह रहस्य सिर्फ भाभी ही जानती हैं, और ऐसा लगता है कि घुल-घुल कर जीवन समाप्त कर देने वाली अनु, इसका उद्घाटन किये बिना ही मर जायगी—या, उसी के कारण तड़प-तड़प कर जान दे देगी।

प्रमोद को वह क्षण याद आ रहा है, जब कि यह दुखद समाचार घर पहुँचा था। अमावस का अंधकार छाया था, खंडहर के पास खड़ी टट्टियों की बनी झोपड़ियों के दीपक बुझ चुके थे। सिर्फ रसोई-घर में एक डिबरी बुझती-बुझती-सी जल रही थी, कई बूढ़े अभी दरवाजे पर ही गप्पें हाँक रहे थे। उत्तर वाले हिस्से की दोमंजिली कोठरी में—जिसकी दीवारें गिरते-गिरते बच गयी थीं, प्रमोद नीचे कंबल बिछा कर लेटा था। उस रोज उसे सर में बेहद दर्द था, और दिन में ही उसने गीदड़ को बोलते सुना था। अंधकार हो जाने पर बीच आँगन में खड़ी महाबीरी ध्वजा पर एक कौवा, काँव-काँव कर फिर उड़ गया था। सर में तेल

मालिश करती हुई चाची से उसने कहा था—"चाची, आज कोई बुरा संवाद सुनने को मिलेगा। कौए को देख रही हो न, दिन में गीदड़ भी बोला है।" चाची ने एक भारी उसाँस ली थी, और जैसे तटस्थता बरतते हुए उन्होंने कहा था—"अब कौन-सा कुसंवाद सुनने को बाकी है बेटा!"

प्रमोद आँखें मूँदे पड़ा था कि अचानक एक साथ कई औरतों के रुदन का स्वर उसके कानों से टकराया। उसका पहले से ही शंकाकुल मस्तिष्क एक बारगी ही चौंक पड़ा, और वह एक साथ तीन-तीन सीढ़ियाँ पार करता हुआ नीचे उतरा। वह हड़बड़ाया हुआ पूछ रहा था, पर औरतें सिर्फ रो रही थीं। वह बाहर दौड़ा, दरवाजे पर ही खड़े-खड़े सिसकियाँ लेते हुए चाचा मिले। उन्हें झकझोर कर फिर उसने वही प्रश्न दोहराया और चाचा रुकते-रुकते-से बोले—"प्रद्युम्न····।" आगे के शब्द जैसे उनके गले में अटक गये हों। वह उसी तेजी से बोला—"प्रद्युम्न क्या? बोलो चाचा!" और, तब चाचा ने, जैसे सम्हाल कर कोई कलेजा पर हथौड़ा मार रहा हो, कहा—"मर गया।"

वह ठक् खड़ा रह गया। अंधकार और भी घना—और भी गहरा होता चला गया। उसे लगा, वह गिर जायगा, बैठ रहा। फिर उसने सुना, पिता का वही झकझोर देने वाला ठहाका, ताल पर की चीलों की फड़फड़ाहट। बड़े-बड़े पत्ते खड़खड़ा उठे थे, और बहुत देर तक चीलों की चीं-चीं, उस अंधकार में उदासी घोलती रही थी।

पिता का यह ठहाका, उनके जीवन का अन्तिम ठहाका था। फिर कभी किसी ने उनका अट्टहास नहीं सुना। मां की मृत्यु ने उन्हें ठहाकों का भाण्डार दिया था, भैया की मृत्यु ने आँसुओं का आगार, मूक तथा नीरव बना रहने का अभिशाप। प्रमोद ने उसके बाद एक दिन भी ऐसा नहीं देखा, जब कि पिता के सूखे और पिचके हुए गालों पर आँसुओं की सूखी लकीरें न खिंची पड़ी हों। और, जिस प्रकार बरसात में नया

पानी पाकर सूखी नदी फिर अपने पुराने पाट के ही अन्दर उमड़-उमड़ पड़ती है, उसी प्रकार रह-रह कर बूँदें, सूखी लकीरों को भिंगोती हुई ढुलक जाया करती हैं।

उन्हें पागल का विशेषण मिला है। पागल का विशेषण! न जाने कितनी बिजलियों की कड़कड़ाहट, अंधड़ों की झकझोर और भूकंपों का विभ्राट पीकर, कोई भी व्यक्ति इस विशेषण से विभूषित होता है।····प्रत्येक पागल, नीलकंठ होता है।

गाड़ी हड़हड़ाती हुई चली जा रही थी, प्रमोद को इसका कुछ भी ज्ञान न था कि वह कितनी दूर पहुँच गया—किस स्थान से गुजर रहा था। उसकी आँखें किरकिरा रही थीं, डब्बा एकदम शांत था। सभी सो रहे थे, या ऊँघ रहे थे। बाहर-भीतर एकदम अंधकार था, जाग्रत थे तो सिर्फ—गाड़ी का घर्र-घर्र का स्वर और प्रमोद के हहराते मस्तिष्क का तीव्र निनाद।

चाँद पीला-पीला हो गया था; उसके पास का तेज चमकता हुआ तारा, क्रमशः और तेज होता चला जा रहा था; आकाश एकदम साफ, खूब माँज कर धोयी गयी उस लोहे की कड़ाही की तरह उलटा पड़ा हुआ था, जिसके भीतर पानी की बूँदें अटकी हुई हों। कि प्रमोद ने देखा—एक बड़ा-सा तारा टूट कर गिरा, और प्रकाश की एक तेज रेखा खींचता हुआ अंधकार के पंक में धँस गया—धँसता गया, और फिर अंतर्ध्यान हो गया।

टूट कर भी कोई गिरे तो ऐसा, प्रकाश की एक ज्वलंत पंक्ति खिंच गयी शून्य में। प्रमोद सोच रहा था—उस तारे की असामयिक मृत्यु हो गयी, आकस्मिक, किसी दुर्घटनावश। उसमें जीवन शेष था, जीवट बाकी था—तभी तो वह जब गिरा, अदम्य प्रकाश के साथ—शून्य में भी एक रेखा खींचते हुए। यों तो कितने ही तारे टूट कर रोज गिर जाते होंगे, अभी भी अलक्ष्य रूप से गिर रहे होंगे। पर, इस प्रकार चमकते हुए

गिरने का सौभाग्य बहुत कम को मिलता है। जिस दिन यह तारा शून्य में उगा होगा, उस दिन वास्तव में कुछ असाधारणता अवश्य दिखी होगी। उस दिन पृथ्वी, एक बार चिहुँकी अवश्य होगी, तारों के संसार में एक खलबली अवश्य मची होगी। तभी तो, उसके विनाश के लिए प्रकृति ने ऐसे उपकरण जुटाये, जो उसमें जीवट रहते हुए ही उसका काम समाप्त कर दे। प्रकृति को इस तारे पर एक बार सोचना अवश्य पड़ा होगा।

भैय्या! कोमलता की मूर्त्ति!!...गोरा-लम्बा चेहरा, मक्खन-सी कोमल त्वचा, पतली-पतली और लम्बी सुडौल उँगलियाँ, घुँघराले लम्बे केश—उनका चेहरा शत प्रतिशत एक कलाकार था। जब अपनी लम्बी उँगलियों में तूलिका पकड़ते तो भावविभोर हो जाते और एकांत कोठरी में घण्टों निश्चल प्रतिमा की तरह बैठे रहते। उन्हें चित्र और संगीत का व्यसन था। जब गोद में सितार लेकर बैठ जाते तो उनके लम्बे केश नीचे झूलने लगते और उँगलियाँ, कभी तेज और कभी धीरे, तारों की छोटी-सी दुनिया को हिलकोरती जातीं। ऐसा मालूम पड़ता जैसे ध्वनि तारों मे नहीं निकल रही, बल्कि वह उस हिलकोर की ही प्रतिध्वनि हो। रोज प्रातःकाल वह सितार बजाते और, प्रमोद को याद आ रहा है, वह अपनी दोनों तलहथियों को धरती पर टिकाये, घुटनों के बल सामने बैठा रहता—विस्मय-विमुग्ध सुनता रहता।

जब चलते तो कुछ सोचते हुए, और वे हमेशा कुछ न कुछ सोचते रहते थे। प्रमोद को उन्होंने कभी डाँटा-डपटा नहीं, कभी चपत नहीं लगायी। एक दिन वे अधूरा-सा चित्र छोड़कर स्कूल चले गये थे। वह खा-पी कर हाथ पोंछता-पोंछता उधर निकल पड़ा था। खूँटियों पर तरुणी का अपूर्ण चित्र रखा था, सामने तूलिकाएँ पड़ी थीं जिनके मुँह कई तरह के रंगों में सने सूखे पड़े थे। उसने एक पतली तूलिका उठायी और तरुणी के कपाल पर नील रंग से एक टीका कर दिया। प्रमोद को टीका

बड़ा अच्छा लगा, और उसने महसूस किया कि वह काम कोई बुरा नहीं था। फिर उसने एक दूसरी मोटी तूलिका उठा ली और उसे लाल रंग में बोर कर कई मोटी-महीन लकीरें, इधर-उधर, दायें-बायें, नीचे-ऊपर खींच दी। कुछ क्षणों तक देखा, कैसा न लगा। फिर उसी तूलिका को काले रंग में बोर कर, उसे तरुणी के गाल पर कस कर रगड़ दिया। चित्र को कुछ क्षणों तक देखता रहा, तूलिका फेंक कोठरी से भागा, और बस्ता लेकर दौड़ता-दौड़ता स्कूल पहुँचा।

शाम को सकपकाया हुआ जब वह सामने आया तो भैया ने गाल थपथपा दिये और बड़े मीठे स्वर में कहा—"मेरा प्रेम भैय्या बड़ा अच्छा है। ऐसा काम नहीं करते—एँ?" उन्होंने चूम लिया, ट्रंक से बिस्किट निकाल कर दिया और उँगली पकड़ कोठरी में ले गये। एक बड़ा-सा सफेद कागज दिया जो नाव बनाने के लिए रिरियाने पर भी वे नहीं देते और एक लाल-हरी पेंसिल देकर कहा—'आदमी का सर बनाओ तो!', वह हुलस कर आदमी का, बेल की तरह का सर बनाता, सूप की तरह कान बनाता और फिर खीझकर जोर से पेंसिल घिस देता। भैय्या हँस पड़े थे, और उन्होंने कहा था—'तुम सूप बना सकते हो, सर नहीं बना सकते।'

फिर वे गंभीर बन गये, जैसा कि वे हमेशा ही रहते थे। उनकी मुद्रा उस गोताखोरकी तरह गहरे पैठने की रहती थी जो समुद्र-गर्भ से मोती निकाला करता है। सितार और तूलिका, उनके प्राण थे, और उन्होंने सोच रखा था—बी० ए० पास कर शांतिनिकेतन या बम्बई जाकर ललित-कला का विशेष अध्ययन करेंगे। बहुत रात तक जग कर न जाने क्या-क्या करते रहते, और जब सारा मुहल्ला सोया रहता—ऊपर आकाश में तारे आँख-मिचौनी खेलते रहते—कभी-कभी छत पर जाकर बंशी फूँकते। प्रमोद को उनकी तूलिका और सितार से अधिक प्रिय यह बंशी ही लगती। ऐसा मालूम पड़ता, जैसे आकाश के रंध्र-रंध्र से स्वर बरस रहा हो। यद्यपि ऐसे अवसर बहुत कम आते थे, पर जब कभी वे उसे बजाते

-ता जैसे उनके हृदय की कोई वेदना सहस्र धाराओं में फूट पड़ती थी। भाभी ने बताया था—मृत्यु की रात भी उन्होंने बंशी बजायी थी, और बहुत देर तक बजायी थी। उनकी ससुराल के सभी लोग जाग गये थे और सारा गाँव उस स्वर-लहरी में डूब गया था। किसे मालूम था कि यह फूँक, उनकी वेदना की उग्रतम अंतिम छटपटाहट थी।

उनकी मृत्यु का रहस्य, अभीतक रहस्य ही है। कोई कहता—उन्होंने जहर खा लिया था, और कोई कहता—बंशी बजाने के समय ही उन्हें किसी साँप ने काट लिया था।

प्रमोद जानता है—वह बंशी उन्हें एक संथाली लड़की से मिली थी, जो गोरी थी। भैया उसकी कहानी बड़े भाव से कहते और अंत में रो पड़ते। और वह तकिये की खोल? कितनी सुन्दर थी वह! सफेद मलमल पर पानी की धार नीली रेशमी डोरियों से दौड़ती हुई दिखायी गयी थी, बीच में सफेद रेशम का बगुला एक टाँग पर खड़ा ध्यान-मग्न दिखाया गया था, ऊपर सुनहले रेशम का चाँद चमक रहा था, जिसकी चाँदनी पानी की धार पर बिछलती हुई दिखायी गयी थी। बगुले के सर से चाँद तक हरे रेशम में, सुडौल अक्षरों में लिखा था—"मैं सपनों में आऊंगी", और उसके नीचे साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी पतली लकीर—जिसके छोर में लिखा था—'रश्मि'।... यह कहानी उन्होंने कभी नहीं–किसी से नहीं बतायी। कंजूस के धन की तरह यह कहानी उनके अंतरतम में गड़ी पड़ी थी।......

एक बार भैया ने लिखा था—"प्रमोद, तुम करोड़ों रुपया पैदा कर सकते हो, सारे संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित कर सकते हो, पर यदि प्यार करने वाला एक सच्चा और निश्छल हृदय तुम्हें मिल गया तो दुनिया के सभी सुख उसके सामने तुच्छ हैं।......एक प्यार करने वाले हृदय की हानि दुनिया की सबसे बड़ी हानि है प्रमोद।"

फिर एक तारा टूट कर गिरा। प्रमोद कुछ क्षणों तक उसे अंधकार के पंक में धँसते देखता रहा। उसे याद आया—एक दिन सुनन्दा के यहाँ

किसी पत्रिका में उसने पढ़ा था, ये टूटने वाले तारे एक तरह के श्वेत पत्थर हैं। अमेरिका में एक ऐसा ही टूटा तारा, अजायब घर में रखा भी है और उसका वजन महज उन्नीस टन है। यह सुनते ही सुनन्दा, 'बाप रे SSSSS' कहती हुई अचानक दो डग पीछे हट गयी थी और मुंह में उंगली डाल बोली थी—"ये पत्थर हैं? प्रेम, कहीं तुम्हारे ही सर पर कभी गिर गया तो?" अनु दीदी खिलखिला कर हँस पड़ी थीं और प्रमोद ने असंगति अलंकार का उदाहरण अनजान में ही प्रस्तुत करते हुए कहा था—"तेरे सर का कचूमर निकल जायगा, और क्या?"

सुनन्दा इस पर कुछ खीझ उठी थी, 'ऊंह' कहती हुई, आधी जीभ मुँह से बाहर निकाल कर उसने अजीब ढंग का जलतरंग-सा शब्द किया था और जीभ नचा-नचा कर उसे चिढ़ा दिया था। उसने दौड़ कर सुनन्दा के बाल पकड़े और कस कर झकझोर दिये—"अब तो कभी इस तरह मुँह नहीं बनायगी?" सुनन्दा—'दीदी SSSS' चिल्ला पड़ी थी और अनु ने हसते हुए उसे छुड़ा दिया था। छूटी नहीं कि फिर उसी तरह मुँह बनाती हुई, जीभ निकाल कर आवाज करती हुई भाग निकली।

उसी दिन प्रमोद ध्यान से कुछ पढ़ रहा था कि सुनन्दा ने उसकी पीठ पर रोशनाई में उंगली डुबो, बड़े-बड़े अक्षरों मे लिख दिया था—Ass। वह काफी बिगड़ गया था और उसे अनु पर भी क्रोध आ रहा था कि जिन्होंने वैसा करने से रोका नहीं, उल्टे हंसती रहीं। वह बाहर जाकर घास पर बैठ गया था और चाह रहा था कि चुपचाप अपने डेरे पर लौट जाय और फिर सुनन्दा के घर पर कभी नहीं आवे।

घास पर बैठा-बैठा वह इसी उधेड़बुन में पड़ा था कि सुनन्दा आयी और उसने चुपचाप पीछे से उसकी आँखें मूंद लीं। प्रमोद की आँखों पर सुनन्दा की बायीं तलहथी पड़ी थी और वह उसकी छोटी-छोटी उंगलियों को देख रहा था। ऐसा नहीं कि उसने पहचाना नहीं हो, पहचान तो लिया ही था, क्योंकि सुनन्दा की एक छोटी-सी तलहथी उसकी दोनों

आँखों को झाँप नहीं सकी थी। फिर भी वह चुप रहा। कोई दूसरा अवसर रहता तो वह 'सुनन्दा' कह कर चिल्ला पड़ता, पर वह मूक ही बना रहा। वह मन ही मन चाह रहा था कि सुनन्दा उसे मनावे, 'प्रेम-प्रेम' कह कर खूब झकझोरे। सुनन्दा ने आँखों पर रखा हाथ जरा चाँप कर पीछे खींचा, और प्रमोद का मुँह आकाश की ओर खुल पड़ा जैसे पपीहा, स्वाति-बूंद के लिए मुँह बाये पड़ा हो। फिर भी वह चुप रहा, डोला तक नहीं, और न हाथ हटाने का ही उसने कोई उपक्रम किया। वह उसी तरह मुँह बाये पड़ा था कि सुनन्दा ने झट आम के अचार का एक छोटा-सा, तेल में सराबोर फाँक डाल दिया। प्रमोद झुँझलाया, एक मन हुआ कि थूक दे, पर फिर न जाने क्या समझ कर चभलाने लगा। अचार देख कर ही उसके मुँह में पानी भर आया करता है, और जब वह छोटा था तभी उसने सोचा था कि बड़ा होने पर जब वह स्वयं घर का मालिक बन जायगा; तब दोनों शाम भरपेट पापड़ और कटोरी-भर अचार ही खाया करेगा। सुनन्दा भी एक टुकड़ा नोंच-नोंच कर चाट रही थी और जीभ को तालु से सटा सटा कर पूरा रस ले रही थी। फिर होठों को सिमटा कर जोर से हवा खींचती, जैसे वह मिर्च के बीज चबा रही हो। प्रमोद हँसना चाह रहा था, पर वह चुपचाप ही बैठा रहा।

सुनन्दा ने आँखें मटका कर कहा—"प्रेम, ओ प्रेम!"

प्रमोद नहीं बोला, उसने आँखें तक भी नहीं उठायीं; पर उसके कान यह सुनने को खड़े हो गये थे कि सुनन्दा अब क्या कहती-करती है।

सुनन्दा ने बायें हाथ से बहुत हौले उसका मुँह ऊपर उठाया, जैसे प्रथम मिलन की रात पति, सर्वप्रथम अपनी नवपरिणीता पत्नी का मुँह, घूँघट हटा कर उठाता है। प्रमोद ने अपनी ठुड्ढी कड़ी कर दी और सुनन्दा ने विशेष जोर नहीं लगा कर हाथ नीचे खींच लिया। वह चुपचाप बैठी रही, पर अन्दर ही अन्दर कुलबुला रही थी। उसने रुआँसे स्वर में कहा—"बस, इतनी-सी बात पर तुम्हें गुस्सा आ गया?"

प्रमोद न 'हाँ' बोला, न 'हूँ'। वह बोली—"मैं तुम्हें हँसा दूँ ? यह देखो, कपाल पर हँसी आयी, यह भौंहों पर, अरे उधर कान में घुसी, यह नाक में घुसी-घुसी-घुमी ऽऽऽ।" और प्रमोद खिलखिला कर हँस पड़ा। सुनन्दा भी खिलखिला पड़ी। फिर उसने अपने दाहिने हाथ में लगे अचार के तेल और मसाले के साथ उसकी नाक पकड़ ली, डुलाती हुई बोली—"बस, हो गये न तुम्हारे नखरे ! तुमको किस खुदा ने मर्द बना दिया ? तुम्हें तो औरत बनाना चाहिये था औरत !"

फिर दोनों एक साथ खिलखिला पड़े थे—प्रमोद का मान टूट चुका था।

जंकशन पहुँचा, कोई बड़ा-सा। गाड़ी रुकी और प्रमोद भी नीचे उतर पड़ा। उसका कुरता पसीने से करीब-करीब भींग चुका था और उसकी तालु की सिक्तता नष्ट हो चुकी थी। खुले और विस्तृत प्लाटफार्म पर आधीरात की हवा खुल कर बह रही थी और उसके भींगे कुरते को भेद कर पचपचाती देह में सुरफुरी जगा रही थी। वह धीरे-धीरे टहलने लगा। सारे प्लाटफार्म पर अधनंगे और खुले बदन लोग टाँगे पसार सोये हुए थे और उनसे बचते हुए मुसाफिर चढ़-उतर रहे थे। खोंचे वाले शोर मचा रहे थे, कान फटे जा रहे थे। एक ओर सबसे अलग, एक पहलवान लेटा था, और उसके पास ही एक काला-सा कुत्ता चारो टांग छितरा कर पड़ा था। प्रमोद उन दोनों के सर के पास से गुजर गया, जैसे किसी बहरे आदमी के पीछे से जापानी मोटर खिलौनागाड़ी निकल गयी हो।

प्रमोद पानी की टंकी के पास पहुँचा, जिसे घेरे हुए कई आदमी जल्दी-जल्दी पानी ले रहे थे। वह एक किनारे वाला नल थाम कर झुकने को हुआ ही था कि उसने महसूस किया—अब प्यास से अधिक भूख उसे सताने लगी थी। उसके कानों से उन खोंचे वालों की विविध आवाजें टकरा रही थीं, जो सर पर सारी दुकान लिये चक्कर मार रहे थे।

उसने झटपट हाथ-मुँह धोये, सर भी भिंगो लिया, पैर धोये, और फिर जलती हुई आँखों में छींटे डाले—पहले दो-चार बार जरा धीरे-धीरे, फिर कई बार तेजी से, दनादन।

नल के पास से प्रमोद इस तरह हटा जैसे वह कोई खाई तड़प रहा हो। उसके मुँह में पानी भरा था, उसकी आँखें लाल हो उठी थीं और उसके बालों से बूँदें चू रही थीं। उसने कुछ सूखी-सूखी पूरियाँ खरीदीं, फिर तंबाकू काटने की मशीन की तरह मुँह चलाता हुआ, कद्दू के रतुए के साथ उन्हें निगलने लगा।

पहलवान के पास लेटे हुए कुत्ते ने अपने कान डुलाये, पूँछ हिलाई। अगले पैरों को कुछ और आगे, और पिछले पैरों को कुछ और पीछे कर उसने कसरती अँगड़ाई ली; फिर अपने सर को दाहिने-बायें खूब जोर से झकझोर दिया। उसके कान उसी तरह पटापट करने लगे थे, जैसे मड़ुए की हरी डंठल को बीच से चीर कर बच्चे पटर-पटर किया करते हैं। वह प्रमोद के ठीक सामने पहुँच कर पूँछ डुलाने लग गया था।

प्रमोद मन ही मन हँस पड़ा। उसे अपने अच्छे दिनों के उस मुँशीजी की याद आ गयी जो गाँव में अव्वल नंबर के हिसाबी थे, पर उनकी जरूरतें इस तरह बढ़ी-चढ़ी थीं कि महीने में कई बार वे पिताजी के सम्मुख कुछ न कुछ माँगने पहुँच जाया करते। पिताजी के सामने वे जिस प्रकार सम्हल कर आते, झुक कर प्रणाम करते, हाथ जोड़ बैठ जाते और सर डुला-डुला कर अनुनय करते—वे सभी प्रक्रियाएँ इस कुत्ते की चेष्टाओं से मिलती-जुलती थीं। वह मुंशीजी, और यह कुत्ता—प्रमोद को इसी पर हँसी आ गयी थी। पर तत्क्षण ही चित्र का दूसरा पहलू भी उसके सम्मुख, यंत्र-लगे उस पट की तरह आ गया जो स्वयं उलट कर अपनी पूर्वस्थिति पर पहुँच जाया करता है। वे मेरे पिता, और मैं यह प्रमोद! पूरियाँ उसके गले के नीचे उतर नहीं रही थीं, उसने पत्तल-समेत उन्हें ठीक कुत्ते के आगे फेंक दिया। न जाने किधर से एक नंगा

काला-कलूटा लड़का आ धमका और बड़ी फुर्ती से कुत्ते के मुँह से पत्तल छीन अलग हो गया। प्रमोद को लगा, जैसे पेट में पड़ी हुई पूरियाँ उछलने लगी हैं, और यदि उसने भूल कर भी मुँह खोला तो वे बाहर कूद आयँगी।

उसने लड़के को बुला चन्द पूरियाँ खरीद दीं, दो पेड़े भी खरीद दिये और उसके गाल थपथपा कर वह पानी पीने चला गया। प्रमोद गटर-गटर पानी पी रहा था और उसके कंठ का उभरा हुआ शंख नीचे-ऊपर आ-जा रहा था।

न जाने क्यों, उसकी तबीयत सिगरेट पीने की हुई। उसने पूरा एक डिब्बा खरीदा और धुआँ निगलता हुआ प्लाटफार्म की हवा खाता रहा।

पीला-पीला चाँद डूब रहा था—क्षितिज के पास, घण्टों से प्रतीक्षा करता हुआ कोई मगर उसे अपने दाँतों से दबा निगलता जा रहा था। अभी-अभी आयी हुई एक गाड़ी ने इतना धुआँ उगल दिया कि प्रमोद, न तो चाँद को देख सका और न आसपास टिमटिमाती हुई स्टेशन की बत्तियों को ही। प्रमोद ने जोर का कश लेकर धुआँ उगल दिया—जैसे वह भी इस फैलते हुए अंधकार में योग-दान करना चाह रहा हो।

अंधकार···! प्रमोद सोचता है—शक्तिशाली अंधकार···अविजित अंधकार···चक्रवर्त्ती सम्राट अंधकार! सारी सृष्टि में फैले ये ज्योतिखंड जीत सके हैं इसे? न जाने कब से जल रहे हैं ये! सूर्य प्रतिदिन आता है, शाम को हार कर चला जाया करता है; चंद्रमा आता है, कभी एक मिनट में ही पटका जाता है, कभी दो मिनटों तक दम साधता है। पूर्णिमा की रात—अंधकार की परम विजय की द्योतक। अंधकार हाथ-पैर पसार कर सोया रहता है और यह चंद्रमा का मृग-छौना उछल-कूद मचाया करता है। मृग-छौना, उसकी इस सुषुप्ति को, उसकी पराजय—उसकी मृत्यु समझ लेता है। चींटी, हाथी की पीठ पर चढ़ कर भी उसकी विशालता का अनुमान लगा सकती है? पर, जब वह जगता है तब प्रचंड प्रतापी

उद्दण्ड मार्त्तण्ड को भी गुफा में जाकर प्राण बचाने पड़ते हैं, चंद्रमा की क्या बिसात! एक अंधकार को पराजित करने के लिए इतने ज्योति-पुँजों का निर्माण!

प्रमोद अपने आप से बोलता है—प्रमोद, साहस और धैर्य, विक्रम और शक्ति का यह उदाहरण लो अंधकार से। यदि तुम एक यही सीख पकड़े रहे तो अंधकार की ही तरह अमृत तुम्हारी मुट्ठी में है।

उसका मस्तिष्क घड़ी के पेण्डुलम की तरह दूसरे छोर पर जा पहुँचा—प्रकाश···आलोकधन्वा! तुम्हारे प्रखर किरण तीर कितने व्यर्थ सिद्ध होते हैं! निहत्थे अंधकार को चीरते तो हैं, पर उसी में समा जाते हैं, रह जाते हैं। कोई भी तीर ऐसा नहीं जो उस पार निकल जाय, यहाँ तक कि उसके मर्म को भी छू सके। इतने क्षुद्र हैं तुम्हारे तीर, इतना विशाल है यह अंधकार!······विश्वकल्याण के शिखंडी को अपने सामने खड़ा कर, उसकी ओट से तीरों की जो यह अनवरत् वर्षा की जा रही है, उससे क्या यह अचल हिमालय हिल जायगा? प्रकाश, यह मूर्खता युगों से करता आ रहा है, करता जा रहा है। प्रकाश!···देवताओं ने आलोक का यह धनुष तुम्हें दिया, ज्योति के तीर दिये, विद्युत की गदा दी; मानवों ने बिजली नामक अपना सर्वाधिक अनुपम पाशुपत दिया, और दानवों ने तुम्हें आसव पिला कर भेजा—फिर भी क्या तुम इस अकेला अंधकार को पराजित कर सके हो?······प्रकाश, मृत्यु से डरता है; मृत्यु अंधकार की आज्ञा मानती है—अमृतपुत्र है वह।········

प्रमोद महसूस करता है, उसे अंधकार ही अच्छा लगता है, इसलिए कि वह विशाल है, महान् है; इसलिए कि उसकी मैली चादर में प्रमोद के जितने आँसू सूखे हैं, प्रकाश के चमचमाते पीतांबर पर उसकी उतनी मुस्कानें नहीं बिखर पायीं।

प्रमोद सोचता है—सूर्य के साहस की प्रशंसा करनी ही चाहिये, क्योंकि वह रोज ताल ठोंक कर अंधकार से पंजे लड़ाता है, और न जाने

कब्र तक लड़ता ही जायगा; पर उस अंधकार को क्या कहा जाय जो उसे रोज निगल-निगल कर उगल दिया करता है, खेल खेलाता है।........

प्रमोद ने सिगरेट सुलगा ली और वह अपनी सीट पर आकर बैठ गया। वह शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों से काफी थक गया था, और उसकी आँखें किरकिरा रही थीं। वह खिड़की पर केहुनी रख उठंग गया और उसने आँखें मूँद लीं।

विपरीत दिशा से हड़हड़ाती हुई एक गाड़ी पहुँची—बेशुमार धुआँ उगलती हुई। सारा वातावरण धुआँ-मय हो गया, विषाक्त बन गया। प्रमोद के सामने जो डब्बा लगा, वह पहली श्रेणी का था और उसमें काफी प्रकाश था, बिजली के पंखे दनादन चल रहे थे। कई आराम से लेटे थे, कई इधर-उधर झाँक रहे थे। तीन-चार लड़कियाँ भी थीं, जिनमें से एक खिड़की के डंटे से पीछे की ओर सर टिकाये आँखें मूँदे पड़ी थी। उसके कान के पास के बाल फड़फड़ा रहे थे और वह रह-रह कर उसे पीछे समेट लेती थी। उसके सामने एक नवयुवक बैठा था, जो कभी नीचे ताकता था और कभी उस युवती की ओर। प्रमोद महसूस कर रहा था, उसकी आँखों में जैसे रह-रहकर कोई शिखा दीप्त हो उठती थी। युवती का उभरा हुआ दाहिना वक्षस्थल आँचल से बाहर था, और महीन मलमल के अँगिया के नीचे से रंगीन चोली की लाली छन-छन कर आ रही थी। प्रमोद ने उसे क्षणभर देखा और अपनी आँखें हटा लीं।

उस गाड़ी ने सीटी दी और उसके पहिये घूमे। प्रमोद के दिमाग का भी पहिया घूम चुका था, और जब वह चल उठता था तब वह आँखें मूँदे-मूँदे ही बहुत दूर के दृश्य देखने लगता था—बैठे-बैठे ही न जाने कहाँ-कहाँ का पर्यटन कर आता था। बंदूक की गोली की तरह, घोड़ा दबा नहीं कि लक्ष्य पर धाँय—इतनी ही तेजी से उसका दिमाग भागा करता था। प्रमोद, धुआँ फेंक रहा था और उधर उसकी गाड़ी भी धुआँ

उगलती हुई हाँफ-हाँफ कर सरकने लगी थी जैसे वह थककर चूर हो गयी थी, आगे बढ़ना नहीं चाह रही थी।

प्रमोद के सामने ऐसी ही एक लड़की का चित्र घूम गया, और फिर फाँद कर वह वहाँ जा पहुँचा, जहाँ कि वर्षों पहले उसने, सबसे पहले उसे देखा था। वह सुनन्दा के साथ स्कूल से ही उसके घर गया था पहली बार। बाहर बरामदे में सुनन्दा के पिता अपने सहयोगी पुलिस-अधिकारी के साथ शतरंज खेल रहे थे, उनके मुँह में हुक्के की लँबी नली थी और वे रह-रह कर हल्का धुआँ फेंक रहे थे। प्रमोद को देखते ही उन्होंने बाहें पसार दीं और उसे छाती से चिपका लिया। थपथपी दी, पीठ पर हाथ फेरा, और पूछा—"अच्छे तो हो बेटा?" प्रमोद ने कुछ उत्तर नहीं दिया था। सुनन्दा के पिता ने सामने बैठे सहयोगी से कहा—"इसका नाम बड़ा मधुर है,जरा पूछिये तो!" उस सज्जन ने जिज्ञासा से, मरा हुआ लाल 'घोड़ा' उँगली में घुमाते हुए पूछा तो प्रमोद बोल नहीं सका। जब किंचित् मुस्कुराते हुए सुनन्दा के पिता ने ही दुलार से पूछा था तो उसने धीमे स्वर में कह दिया था—"प्रेम"। दोनों ठहाके देकर हँसने लगे थे।

इसी बीच लड़कियों से लदी एक बग्घी फाटक पर रुकी, और एक किशोरी पेट और तलहथी के बीच किताबों का एक बोझा थामे उतरी। उसके दाहिने हाथ में पीतल का चमचमाता हुआ एक डिब्बा था, और उसकी लंबी-लंबी वेणियों के लाल और नीले फुदने, अभी-अभी खिले हुए फूलों की तरह साड़ी से बाहर झाँक रहे थे। वह जब मुड़कर चली तब वे फुदने उसके नितंबों पर उसी तरह झूलते रहे जैसे उठती-गिरती हुई लहरों पर फूल उठते-बजरते रहते हैं।

सुनन्दा के पिता ने पुकारा—'अनु', और वह मुड़कर वहाँ पहुँची जहाँ शतरंज चल रहा था। "बेटा, यह विशुनपुर के बाबू साहब का लड़का है, भीतर ले-जाकर कुछ खिला-पिला दो।" किशोरी ने अपना डिब्बा किताबों पर रखा और प्रमोद को कंधे के पास पकड़ती हुई भीतर ले चली।

किवाड़ा के पार भी नहीं हो पाये थे कि उसने भी पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है बबुआ ?" प्रमोद को गुस्सा आ गया था—ये सभी मेरा नाम क्यों इस तरह पूछा करते हैं ? उसने महसूस किया—यदि नाम सुनकर यह लड़की भी मुस्कुरा पड़ी तो वह किवाड़ी पर पटक-पटक कर अपना सर फोड़ लेगा।

"तुम लजाते हो ? नाम बताने में क्या लाज ?"

तब तक उधर से सुनन्दा दौड़ी आ गयी, अनु के ठेहुनों से झूलती हुई बोली—"दीदी, यह मेरा साथी है, प्रेम !" किशोरी मुस्कुरा पड़ी और किताबों पर का डिब्बा नीचे आ गिरा। वह समझ नहीं सका था, सुनन्दा के झूलने से डिब्बा गिरा था या उसका नाम सुनकर चौंक जाने से।

प्रमोद को अनु ने अपने पास बिठा कर खिलाया, स्वयं उसका मुँह धो दिया, बिखरे बालों में कंघी कर दी और फिर उसके गाल चूम लिये। वह, जैसे कि सब कुछ समझ रहा हो, मंद-मंद मुस्कुराता रहा। फिर अनु ने उसे गोद में उठा लिया और सुनन्दा को चिढ़ाने के लिए कहा—"मैं तुम्हारी दीदी नहीं, प्रेम की दीदी बनूँगी।" सुनन्दा, अनु के ठेहुनों को पकड़ उसकी ओर हँसती हुई देख रही थी, जैसे उसे विश्वास हो कि दीदी तो आखिर उसकी है ही; यह तो प्रमोद को बहलाने के लिए ऐसा कहा जा रहा है। फिर प्रमोद के गाल चूमते हुए अनु ने पूछा था—"क्यों प्रेम, आज से मैं तुम्हारी दीदी—एँ !" और उसने गिरगिट की तरह अपना सर डुला कर पहले तो अनु के गले की चारों ओर अपनी छोटी-छोटी बाहें डाल दी थीं, फिर हाथ उठाकर सुनन्दा को परे हटाने की कोशिश की थी। सुनन्दा उसके ठेहुनों को पकड़ नीचे खींचती और वह खिल-खिलाता हुआ अनु के गले से लिपट जाता।

लगभग, छः-सात वर्षों बाद, भैय्या पटने में पढ़ने लगे थे और वह चाचा के साथ दूसरे शहर में था। पिताजी का तार मिला—फलाँ समय,

फलाँ स्टेशन पर पहुँचो, प्रद्युम्न की शादी है। पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ, यह झट मँगनी पट ब्याह कैसे! इधर से वह पहुँचा था उधर से भैय्या। उनके साथ, उनके अपने कई मित्र भी थे। बारात स्टेशन पर पहले तैयार खड़ी थी। उसे अब तक कुछ भी पता नहीं था कि शादी, किससे, कहाँ और कैसे घर में होने जा रही है। अचानक द्वार लगने के समय जब उसने सुनन्दा के पिता को आगे-आगे, चाँदी की थाली में स्वागत का सामान लेकर आते देखा तो वह चौंक उठा। उसके दिमाग में तत्क्षण अनु दीदी की तस्वीर नाच उठी, और तब उसके मनमें न जाने कैसी-कैसी गुदगुदी लगती रही थी।

दूसरे दिन वह भी आँगन बुलाया गया, सुनन्दा से उसकी भेंट हुई—ओह! कितनी खिल और बदल गयी थी वह! वह उसे अपनी कोठरी में ले गयी थी और उसने दुनिया-भर की बातें की थीं। स्कूल और शहर छोड़ देने के बाद से लेकर तब तक एक भी पत्र नहीं लिखने के कारण वह गाल-मुँह फुलाकर बैठ गयी थी, सिर्फ हूँ-हूँ करने पर उसे गुदगुदा देती थी, और बाल पकड़ सर झकझोर दिया करती थी। पानी माँगने पर भर गिलास दूध ले आयी थी और पान के बीड़े उसके मुँह में जबर्दस्ती ठूँस दिये थे।

रात-भर का थका और जागा वह, वहीं सुनन्दा की कोठरी में सो गया था। सुनन्दा पंखा झेल रही थी, और उस समय उसने एक गंभीर चुटकी भी ली थी—"काश! तुम इसी तरह मुझे रोज सुलाती।" सुनन्दा लजा गयी थी, पर अपनी स्वाभाविक प्रगल्भता से उसने कहा था—"सच? क्या जाड़े में भी?" वह कितनी समझदार बन गयी थी।

वह जब जागा तो सुनन्दा नहीं थी, पर बहुत सारी लड़कियाँ खिल-खिला कर हँस रही थीं—हँसती ही जा रही थीं। उसके बड़े-बड़े बाल खाट में पीछे बाँध दिये गये थे जो एक हल्के झटके से ही खुल गये। वह झुँझलाया हुआ हाँफी लेता हुआ उठ बैठा था और साश्चर्य उन

लड़कियों को खिलखिलाते हुए देख रहा था। वह समझ नहीं पा रहा था कि इतनी दंतपंक्तियों की झलमलाहट का आखिर कारण क्या है। अचानक उसने अपनी आँखें रगड़ीं तो कोई गोंद-सी तरलवस्तु उसके हाथों में लगी। उसके मुँह में सिंदूर पोत दिया गया था और तब उसने अंदाज लगाया था कि वह पूरा मिट्टी के हनुमान-सा ही दिख रहा होगा। बिछावन पर पड़ी चादर से ही उसने रगड़-रगड़ कर अपना मुँह साफ किया और मन ही मन भुनभुनाता रहा। तब तक सुनन्दा आ गयी थी तो उसने डपट कर पालकी मँगा देने को कहा था। लड़कियाँ खिसक गयी थीं, और तब सुनन्दा ने गिड़गिड़ा कर उससे माफी मांगी थी, और यह दलील दी थी कि सिंदूर किसी दूसरी लड़की ने पोत दिया था। फिर साबुन से मुँह धुला दिया, और जब प्रमोद बाल साफ करने लगा तो उसने कंघी छीन कर अपने हाथ से सँवार दिये थे।

तब थाली में दही तथा कुछ मिठाइयाँ लेकर अनु दीदी प्रगट हुई थीं। भरमांग सिंदूर, खिला हुआ चेहरा, सलज नयन, जिनमें लाल डोरे उगे हुए थे। वह पीली महीन साड़ी पहने हुई थीं, जिसकी चकमक गोटा जाली बड़ी फब रही थी। नाक की नोक से माँग के मुँह तक सिंदूर की एक मोटी रेखा पड़ी थी और हाथों में केहुनी तक लाह की पीली-पीली चूरियाँ भरी पड़ी थीं। प्रमोद ने उठ कर उनके पैर छुए और दीदी आज पहली बार लाज से लाल हो उठीं। उनकी ओर वह देख नहीं सका और चादर के छोर को तीरता रहा। वह उसके पास ही आकर बैठ गयी थीं और अपने मेंहदी-भरे हाथों से उसके बाल सम्हालती हुई बोली थीं—"ऐसे तो ये लड़कियाँ तुम्हें तंग कर छोड़ेंगी, तुम भी तो कुछ बोलो-हँसो।" वह अपने पैर के अंगूठे से फर्श पर लकीरें खींचता रहा था।

अनु बोलीं—"चलो उठो, जलपान कर लो।"

"मेरा पेट एकदम भरा है दीदी।"

सुनन्दा ने अपनी दोनों तलहथियों में उसका मुँह ले हँसते हुए कहा था—"दीदी नहीं, अब भाभी कहिये देवरजी! भाभी।" प्रमोद ने अपना मुँह झपट कर छुड़ा लिया था और अपनी हाथ-घड़ी के फीते को डुलाने लग गया था। भाभी लजा गयी थीं।

दूसरे दिन सुबह-सुबह, और बारातियों के साथ जब प्रमोद सोकर उठा ही था कि पालकी आयी और भैया उतरे। उनकी आँखें उनींदी, पलक झुकी हुई और चेहरा उतरा हुआ था। वे धीरे-धीरे प्रमोद के पास आये और कपड़े उतारने लगे। प्रमोद ने देखा था—भैय्या के गले के पास और ठुड्डी के नीचे सिंदूर के दाग पड़े थे। वह मन ही मन मुस्करा कर रह गया था, फिर जब भैय्या को दिखाया था तो उन्होंने लजाते हुए रुमाल से पोंछ लिया था।

उसी दिन दोपहर में खीर खाने की बुलाहट हुई, वह अपने कई चचेरे भाइयों के साथ गया था। सुनन्दा की फूफी बोली थीं कि प्रमोद बाबू की भी शादी सुनन्दा से लगे हाथों कर दी जाय, भाई साहब (सुनन्दा के पिता) भी आज सुबह बोल रहे थे। भैया, सिर्फ 'अच्छा रहेगा' कह कर रेशमी रूमाल कलाई में उमेठ-उमेठ कर बाँधने लग गये थे, सुनन्दा तमक कर किवाड़ी की ओट में बैठी भाभी के पीछे जाकर खड़ी हो गयी थी और प्रमोद की इच्छा हो रही थी कि खीर, यों तो पड़ी-पड़ी ठण्ढी हो जायगी, सो क्यों न इसे झटपट पेट के हवाले कर दिया जाय। प्रमोद ने किवाड़ी की ओर देखा तो भाभी मुस्कुरा रही थीं, और सुनन्दा प्रमोद को बँधा मुक्का दिखा रही थी। तब तक भैय्या ने भी उधर ताका, भाभी ने झट किवाड़ी आगे सरका दी; और दोनों भाई आँखों-आँखों में ही एक दूसरे का अर्थ समझ मुस्कुरा उठे।

खीर खाने की विधि चल ही रही थी कि किवाड़ी फिर पीछे सरकी। भाभी की नाक की नोंक से माँग के मुँह तक की सिंदूर-रेखा चमक उठी। उनके दोनों कंधों पर झुकी हुई सुनन्दा खड़ी थी और प्रमोद को जीभ

निकाल हिला-डुला कर चिढ़ा रही थी। प्रमोद मन ही मन मुस्कुरा रहा था, और उसने खीर का कौर कुछ आगे बढ़ाते हुए सर डुला कर इशारा कर दिया था—'खाओगी?' सामने बैठी औरतों ने अचानक पीछे की ओर ताका, किवाड़ी एक झटके के साथ बंद हुई और फिर सभी खिलखिला कर हँस पड़े।

और अभी प्रमोद के सामने अनु का वह दुखद चित्र झलमलाने लगा था, जिसमें वह एक तपस्विनी की मुद्रा में, खादी की सफेद साड़ी पहने चरखा काट रही थी। उस सिंदूर-भरी मांग के बाद उसने भाभी का यही रूप देखा था—मानों ऊषा की लाली को भादों क काले मेघों ने धो-पोंछकर साफ कर दिया हो। वह शांत और गंभीर बैठी थीं, मानों किसी शाप के बश अहल्या पत्थर बन गयी हो। उनके आनन पर वैधव्य का रूखापन था, जैसे चमचमाते शीशे पर धूल की पर्तें जम जाती हैं। उनके बाल रूखे-सूखे, पीछे बिखरे पड़े थे और हाथ सूत से उलझे थे। चरखे का घुर्र-घूँ स्वर चल रहा था और भाभी, अतीत तथा भविष्य के कपाट बंदकर वर्त्तमान की कालकोठरी में कुलबुलाती हुई अपनी जिन्दगी के दिनों को दनादन समेटती जा रही थीं, रह-रह कर आँचल से अपना मुख पोंछ लेती थीं।

प्रमोद की आँखों में डब-डब आँसू घुमड़ आये। दूर चमकता हुआ तारा, धीरे-धीरे झलमलाता हुआ नजर आया—फिर जैसे कि दौड़ती धार पर थिरकता दिख पड़ा और अन्त में धूमिल पड़ गया। टप्-से कई बूँदें चू पड़ी—तारा साफ दिखने लगा था।

न जाने किस स्टेशन पर गाड़ी रुकी, कुछ पुराने मुसाफिर उतर गये, कुछ नये आये। धुँधले प्रकाश में प्रमोद ने देखा—एक कंकाल लाठी टेकता-टेकता आया, रो-रो कर भीतर प्रविष्ट हुआ और नीचे ही किनारे लग कर बैठ गया। उसकी डोलती छाया से प्रमोद ने महसूस किया—शायद वह भिखमंगा है और अंधा। बैठने के समय एक धीमी कराह उसके मुख से निकली, और तब प्रमोद ने यह भी अंदाज लगाया

कि उसे बैठने में तकलीफ होती है। वह अपना माथा पीछे टेक आराम करने लगा, और तब प्रमोद ने अनुमान किया—भिखमंगे ने अपनी आँखें मूँद ली होंगी; उसी तरह, जिस तरह बीमार बैल गुहाल में पहुँचते ही आँखें मूँद लेता है।

सीट पर लेटे हुए, किसी मुसाफिर ने झिड़का—"ए, बाहर जाओ बाहर; यह ड्योढ़ा है, ड्योढ़ा।"

भिखारी कुछ क्षणों तक चुप रहा, फिर बोला—"ड्योढ़ा हो या अढ़ैया, हमें क्या बाबू। अगले टीसन पर ही उतर जायँगे।" सीट पर बैठा मुसाफिर न जाने कितना भुनभुनाया—तमीज, सभ्यता, सरकार—सब पर दो टूक आलोचना।

प्रमोद ने आसमान के घुलते हुए अंधकार को देखा, अगणित लुकते-छिपते तारों को देखा—स्वर्गंगा की धवलता और भी बढ़ गयी थी। उसने कस कर अंगड़ाई ली, उँगलियाँ चटखायीं—उसे लगा, जैसे उसका बदन कुछ हल्का पड़ गया है, थिर पड़ा हुआ खून दौड़ने लग गया है। उसने सिगरेट सुलगा ली, क्षणभर के लिए सीट के डंडे पर सर टेक कर बगलवाली सीट पर बैठी गुलथुल मारवाड़िन के बायें कान का कर्णफूल दमक उठा; उसने महसूस किया, हिचकोलों के साथ वह झूल रहा है और उसके गाल की लाली को चूम-चूम कर रह जाता है। प्रमोद ने अंधकार में ही बाहर जोर से थूक फेंका और यह देखने का असफल प्रयास किया कि वह कहाँ जाकर गिरा। थूक की नन्हीं-नन्हीं बूँदे तेज हवा की धुनकी से धुन कर उसके चेहरे पर पड़ीं और उसने सर भीतर कर लिया। उसने देखा था, गाड़ी अंधकार को चीरती हुई आगे बढ़ती जा रही थी और पीछे—अंधकार फिर उसी तरह एकाकार होता जाता था जिस तरह किसी रबर के टुकड़े में सुई घुसा कर फिर निकाल लेने पर हो जाता है। रबर में तो एक दाग़ भी पड़ जाता है, पर अंधकार लहरों के आलोड़न-विलोड़न की तरह एकाकार हो जाया करता था।

•

उसने धोती से चेहरा पोंछ कर फिर एक जोर का कश खींचा, और उसके कानों से किसी फिल्मी गीत की वह पंक्ति बार-बार टकराती रही, जिसमें आकुल प्रतीक्षा में पड़े किसी विरही हृदय के निराश उद्‌गार बड़े सीधे-साधे ढंग से फूट पड़े थे।

"सुहानी रात ढल चुकी, न जाने तुम कब आओगे।"

वह हौले-हौले गुनगुनाने लगा, प्रयत्न किया कि उसी तरह गाये जिस तरह कि उसने उसे पहले-पहल सुना था। उस तर्ज से मिला कर गाने के लिए वह व्याकरण-विरोधी संधि कर 'कबाओगे' बना देता और फिर धुआँ उगल देता।

इस एक पंक्ति के साथ उसके जीवन का जितना ही सुन्दर और रोमांचक परिच्छेद जुटा है, वह उसके चरित्र का उतना ही कुरूप और घिनौना अंग भी सिद्ध हुआ है। उसकी आँखो के सामने नाच उठा—दूर एक शहर का छोटा-सा मुहल्ला, जहाँ वह भाई से अलग होकर एक चाचा के साथ रहने लगा था। चाचा, पास ही की अपनी छोटी सी जमीन्दारी का इंतजाम करते थे और दिन भर उसी में व्यस्त रहते थे। शाम को भंग चढ़ा कर वह कुम्भकर्णी निद्रा में इस तरह खर्राटे लेने लगते कि यदि मुहल्ले में नगाड़ा भी बजे तो वह टूटने को नहीं। झुण्ड के झुण्ड मच्छर उन्हें डँसते रहते पर उनकी नींद नींद ही थी। एक मैथिल रसोइया था जो शिवजी से अधिक उनकी बूटी का भक्त था। शाम को चाचा के साथ भंग पीता, साँझ-सकारे खा-खिला देता और फिर डकारता हुआ घण्टों मोड़ पर वाली पान की दुकान पर जमता। वह गाँजा भी पीता, और कभी तो वहीं दुकान पर, नहीं तो बाहर चबूतरे पर गमछा बिछा कर पड़ रहता।

उसके साथ, उसके दूर के रिश्ते का एक लड़का भी था—गणेश। जब वह पहली बार रसोइये के साथ डेरे पर रहने आया था, तब प्रमोद ने खूब दृष्टि गड़ा कर उसके सूखे हुए चेहरे, उसके फटे-गंदे कपड़ों को

देखा था; और तब जैसे चुपके से कोई उसके अन्तर में कह गया था—"बेचारा गरीब है !"

गरीब ? प्रमोद ने धुआँ फेंकते हुए अपनी आँखें खोल दीं। खर्राटे लेते हुए उस सहयात्री को देखा, जिसने अभी-अभी जोर से साँस खींच कर करवट बदली थी। उसने फिर आँखें मूँद लीं, और अतीत के उन शिलालेखों को पढ़ने का प्रयत्न करने लगा, जो उसी के हाथ की लिपियों में कभी लिखे गये थे, पर जिन्हें अब दुहराने में वह अपने को अक्षम पाता था। वह अतीत की गंदी नालियों से कुछ चमकते रत्नों को निकाल, उनकी परीक्षा—उनका मूल्यांकन कर रहा था, और देख रहा था कि उनके झिलमिलाते प्रकाश में वर्त्तमान की पथरीली जमीन और भविष्य की अंधेरी गुफा में वह और कितने पग आगे चल सकता है।

गरीब ? प्रमोद सोचने लगा था—उन दिनों यह विशेषण उसे कितना प्रिय था। इसे सुन कर उसकी छाती फूल उठती थी उसके पैर इतराने लगे थे, और उसके चेहरे पर एक तनाव आ जाया करता था। केवल यह समझ कर कि वह उन लड़कों में नहीं है जो पुस्तकें न रहने के कारण शिक्षकों की झिड़कियाँ खाते हैं—बेंच पर खड़ा कर दिये जाते हैं—वर्ग से निकाल दिये जाते हैं; वह उन लड़कों में नहीं है जो नियत तिथि पर शुल्क न देने के कारण जायज जुर्माना माफ करवाने के लिए शिक्षकों की खुशामद किया करते हैं, उनके सामने झूठ-सच दलीलें देते हैं; वह उन लड़कों में नहीं है जो सरस्वती-पूजा में चन्दा देने के निमित्त दो-चार आनों के लिए चंदा उगाहनेवालों से जिरह किया करते हैं, कन्नी कटा जाते हैं।

गरीब ? प्रमोद का हृदय मथने लगा, उसका दिमाग घूमने लगा। उसे लगा, जैसे उसके कण्ठ के पास किसी शक्तिशाली विष की थैली पड़ी हो जो अपनी ज्वाला से उसके सारे बदन को झुलसा रहा हो।

गरीब ?....प्रमोद नियति से मन ही मन बोला—"देवि, चाहे सब दिनों के लिए ही क्यों न हो, गरीब ही रहने देना, अभाव की भट्टी में जलाते रहना; पर सुख की सेज पर से घसीट कर जलती मरुभूमि मे नग्न पड़े रहने को विवश न करना।"

रसोइये ने बताया था—गणेश का बाप किसी जमीन्दार के यहाँ कारिन्दा था, डकैतों द्वारा मार डाला गया। वहीं ड्योढ़ी में रह कर पढ़ता था वह। माँ बहुत पहले मर गयी थी, पिता ही एकमात्र अवलंब था। पिता के मार दिये जाने पर जमीन्दार ने इसे निकाल दिया था और तब वह किसी तरह अपने इस सम्बन्धी की धोती-चादर पकड़ पाया था।

गणेश बोला था—उसकी इच्छा होती थी कि वह गंगा में डूब मरे और वहाँ चला जाय जहाँ उसके पिता खाना बना कर उसके आसरे मे बैठे होंगे।

गाड़ी मे बैठे प्रमोद ने विश्लेषण किया—गणेश के अंदर वह कौन-सी शक्ति थी जिसने उसे उस समय विमोहित कर लिया था ? उसकी वाणी के अंदर वह कौन-सी वेदना थी, जिसने उसकी सारी सहानुभूति प्राप्त कर ली ? प्रमोद ने निर्णय किया—उसकी अक्षमता, दरिद्रता; तथा अपनी शान, अपनी शौकत दिखा सकने का एक सुअवसर—अपने अहंकार की तुष्टि ! उसने अनुभव किया था, वह कितना महान् है। नियति ने तुलना के लिए एक कितना गरीब, अक्षम और निरीह प्राणी उसके पार्श्व मे लाकर खड़ा कर दिया था।

क्या जानता था कि इस प्रकार वह एक भयंकर सर्प को दूध पिला रहा था ? नहीं, इसमे गणेश का क्या दोष ? यह तो स्वयं उसकी अपनी ही दुर्बलता थी जो शनैः-शनैः उसकी शक्ति को क्षय करती जा रही थी—अज्ञात रूप से। उस समय तो उसे इस पतन की ओर जाना बड़ा अच्छा लग रहा था, और महज मनोरंजन के नाम पर ही वह

वह पीला-पीला पड़ गया था, आँखें उसकी धँस गयी थीं, और उनकी चारों ओर स्याही दौड़ गयीं थी। बाद में आँखें हल्दी की तरह पीली पड़ गयीं। चाचा उसे घर ले गये थे और महीनों तक वैद्यजी इलाज करते समय उससे कहते रहे थे—"वैद्य से कुछ नहीं छिपाना चाहिये बेटा।"..........जब पाँच-छः महीनों के बाद, वह फिर वहाँ पढ़ने लौटा तो पता लगा कि, वह औरत कलकत्ते भाग गयी है– किसी बावर्ची के साथ।

प्रमोद सोचता है—जीवन में ये ही पाप किये उसने, जिनका फल उसे भुगतना पड़ रहा है—भुगत रहा है। उसके भीतर एक ऐसे शून्य का निर्माण हो गया है, जो बाहर कोई रंग चढ़ने नहीं देता। उसका अंतर अपने उस खोखलेपन से इतना अधिक परिचित हो गया था कि मस्तिष्क, जब कभी सिद्धांत की कांटी पर विचारों के तार उमेठने लगता, वह शून्य अपना संपूर्ण खोखलापन लिये विस्तृत होता जाता—फैलता जाता और उसे निगल जाता। कांटी उखड़ जाती, विचारों के तार झनझना कर बिखर जाते—अपने आप में उलझ जाते। वह फिर कभी उन्हें सुलझाने का साहस नहीं कर सकता।............

वासना की भूख! मनुष्य को पशु बना देनेवाली यह आग!! कितनी उद्दाम होती है इसकी जाग्रति! कितनी प्रबल होती है इसकी झकझोर!!..........मनुष्य, अपने को मनुष्य बनाये रखने के लिए, पशु से अपने को भिन्न सिद्ध करने के लिए, सामाजिक नियमों द्वारा इस भूख पर—इस प्यास पर, नियंत्रण रखता है। नियत्रणों में बँधा हुआ नियंत्रित, सोचनेवाला पशु ही मनुष्य है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी, जन्म और स्वभाव से पशु है। बंदरों की संतान ने, अपने-आप को, अपने द्वारा बनाये हुए नियमों में ही बाँध कर, अपने बाप-दादों से अधिक सभ्य करार दिया है। पर, यह नियंत्रित भूख जब कभी जोर मारती है, तब वह अपने बाप-दादों को भी मात कर देता है।..........

बौद्धों का काषाय चिथड़ा-चिथड़ा कर डाला इसी भूख ने, वल्लभ-संप्रदाय की धज्जी-धज्जी उड़ा दी इसी प्यास ने। राजनीतिज्ञ कृष्ण को भगवान् बना देने वाले नर-पुँगवों ने ही उसे कामी बना कर गाँव-गाँव, गली-गली नाचने को बाध्य किया।............

यदि जीवन, एकदम अपने मौलिक रूप में ही रहे, तो यह मनुष्य भी सिवा एक विलासी के और कुछ नहीं रहता। न तो उसे किसी का डर ही रहता और न किसी की शंका ही। वीरभोग्या वसुन्धरा, विलासियों की क्रीड़ा-भूमि बनी रहती।............और तब, मनु के सभी बेटे, मनु की बेटियों की चारो ओर घूमते, नृत्य करते।............आज भी मनु के ऐसे बेटे हैं, आज भी मनु की ऐसी बेटियाँ हैं, जिनके एक संकेत-मात्र से ही नियंत्रण ढीले पड़ जाते हैं—जंजीर टूट कर गिर जाती है—शृंखला की कड़ियाँ चकनाचूर हो जाती हैं। और, और तब वहाँ आनन्द की वर्षा होती है।............

"जीवन, संग्राम है",—दार्शनिकों के इस कथन पर आज प्रमोद को शंका हो रही है। वह सोचता है—जीवन का जन्म आनन्द से है। स्त्री और पुरुष, सिर्फ एक आनन्द की प्राप्ति के लिए मिलते हैं; उस समय एक जीवन को जन्म देने का विचार, उनके आनन्दाभिभूत मस्तिष्क में शायद ही उठता हो। यह तो अकस्मात्, उस आनंद से जीवन उद्भूत हो जाता है।........जीवन का जन्म संग्राम से नही, संगम से है; विरोध से नहीं, संधि से है।............

आनन्द से उद्भूत जीवन संग्राम नहीं हो सकता, जिस प्रकार आदमियों से उत्पन्न संतान, सियार नहीं हो सकती। प्राकृतिक रूप से यदि जीवन को बढ़ने दिया जाय, तो जिस प्रकार शिशु से किशोर, और फिर किशोर से युवा होने में, शारीरिक रूप से उसे कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ती; उसी प्रकार, आनंद प्राप्त करने में भी उसे कोई बाधा नहीं मिलेगी। यदि जीवन को, जीवन भर, माँ के दूध पर ही जीवन बिताना

पड़े, या उसे दूध पर्याप्त मात्रा में मिलता रहे, तो उसे संघर्ष नहीं ही करना पड़ेगा। राजा-महाराजाओं के सपूत, इसके उदाहरण हैं; और हाईकोर्ट में मुकदमा लड़ने या घुड़दौड़ में भाग लेने को हम संग्राम की संज्ञा नहीं दे सकते।............

जीवन आनन्द है, यदि हमारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, कोई अप्राकृतिक कार्य कर उसे विषाक्त न बना दे।.........यदि दूसरों का कौर छीना जायगा अपना कौर बचाकर रखने के लिए, तो संघर्ष होगा ही। यदि दूसरों का आनंद छीना जायगा अपना आनंद बढ़ा रखने के लिए, तो संग्राम होगा ही।............

प्रमोद का माथा झुक गया था, गाड़ी बढ़ती जा रही थी। प्रमोद ने निर्णय दिया—

जीवन संग्राम नहीं है। शक्तिहीन और अपाहिज व्यक्तियों के मस्तिष्क की उपज यह सामाजिक व्यवस्था, अपने विशेष आनंद की उपलब्धि के लिए, शक्तिशाली मनुष्यों के जीवन को संग्राम करार देती है।............

गाड़ी का स्वर कुछ अधिक तीव्र हो उठा, शायद वह कोई लंबा पुल पार कर रही थी। ब्राह्म मुहूर्त्त की मलय बयार के शीतल झोंके चल रहे थे। निस्तब्धता को चीरती हुई गाड़ी की सीटी ने सारे वातावरण को जैसे झकझोर कर जगा दिया। प्रमोद ने अपनी भारी पलकों को हौले उठाकर, एक बार बाहर देखा—शुक्रतारा चमक रहा था। उसकी पलकें मुँद गयीं। उसने खिड़की पर अपनी दोनों बाहों को रख, अपने माथे को आश्रय दिया, जो एक हिचकोले से डोल कर एक ओर थिर हो गया। वह नन्हीं-नन्हीं साँसें ले रहा था।............

•

"नक्षत्रो, तुम क्या देखोगे, इस ऊषा की लाली क्या है ?
संकल्प भर रहा है उनमें, संदेहों की जाली क्या है ?
कौशल यह कोमल कितना है सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या ?
चेतना इन्द्रियों की मेरी, मेरी ही हार बनेगी क्या ?"

—कामायनी (कामसर्ग)

२

तपस्या

सारा वर्ग भरा था। नये वर्ष का प्रथम दिन—सभी छात्रों के मन में एक उत्साह, नवीन जीवन का एक उद्वेगमय संचार था। कोई पतलून में दोनों हाथ डाले इस तरह अकड़ता हुआ क्लास में घुसता, जैसे हिन्दुस्तानियों की सभा में अंग्रेज अफसर आ गया हो। दूसरा लपक कर उस तक बढ़ता और दोनों कसकर हाथ मिलाते। कोई सारे वर्ग पर एक सरसरी नजर डालकर, कोने में बैठे अपने गोल में जा मिलता और साथियों के साथ हँस-हँस कर बातें करने लगता, जैसे यह क्लास नहीं—कोई होटल हो। कोई एक किनारे बैठा-बैठा चुपचाप इन चुहलबाजों को देखता, और फिर डेस्क के नीचे अपने पैर झुलाता हुआ, सामने रखी कॉपी पर कुछ रेखाएँ खींचने लगता। कोई तेजी से इस दरवाजे घुसता और उस दरवाजे निकल जाता, जैसे वह बहुत व्यस्त हो और हिटलर का पहाड़ उसी के सर पर टूट पड़ा हो। कोई अपने साथी के साथ बातें करता हुआ धीरे-धीरे प्रवेश करता और डेस्क पर पैर टिका कर कभी नवागंतुक छात्रों को देखता, उनके चेहरो और पहनावों पर व्यंग्य करता हुआ हाथ में मुँह छिपा हँसने लगता। कोई किसी के नये डिजाईन के कोट पर अपने मन्तव्य प्रकट करता और अपने पतलून के क्रीज ठीक

करने लगता। कोई रूमाल निकाल कर मुँह पोछता और ऊपरी जेब में इस तरह रखता कि उसका खूबसूरत छोर पंजाबी पगड़ी के पंखनुमा तुर्रे की तरह झाँकता रहता। कोई दाँतों में फाउन्टेन-पेन थामे, ऊपर बिजली के पंखे को देखता और फिर कुरते को चुटकियों से फैलाकर भीतर मुँह से फूँक मारता, या रूमाल को घुमा-घुमा कर हवा करने लगता।

एक अभी-अभी अपने ढीले-ढाले पतलून को पेट तक खींचता हुआ—मजनूँ की तरह डोल-डोल सीटी बजाता हुआ क्लास में घुसा। उसे देखते ही सारे वर्ग में हँसी की एक हल्की लहर दौड़ गयी, और उसके पूर्व-परिचित साथी 'हेलो-हेलो रणजीत' कहते हुए उसे अपने गोल में खींच ले गये। वह एक अजीब तरह से आँखें मटकाता और रह-रह कर सीटी बजा देता था। उसके चलने, बोलने और विभिन्न मुद्राओं म एक साथ बातचीत करने के ढंग से हँसी फूट पड़ती और जब वह देखता कि उसे देख कर सभी हँस रहे हैं, तब वह इतना गंभीर बन जाता मानो उसने कुछ किया-धिया ही नहीं।

खादी पैजामा, खादी कुरता, अस्तव्यस्त बाल और बढ़ी हुई दाढ़ी—प्रमोद दरवाजे पर आया और ठिठक गया। उसने चारो ओर नजर दौड़ायी, एकदम उस कोने में कुछ खाली जगह थी। वह तेजी से पैर बढ़ाता हुआ, वहाँ जाकर बैठ रहा। उसके सामने की बेंचों पर ही पतलून-धारियों का गोल, तरह-तरह के मज़ाक कर रहा था। एक ने पूछा—"जानते हो ? इस बार पाँच छोकरियों ने अपने क्लास में नाम लिखाया है। एक को तो अभी बाहर देखा था—पूरी चुहिया है चुहिया।"

सबने एक हल्का ठहाका लगाया, रणजीत ने एक साथी की नाक पर से चश्मा उतार अपनी नाक पर रखा, और अधझँपी आँखों से इस तरह अपनी पलकें घुमायीं जैसे कोई उल्लू दिन में ताक रहा हो। सब ने फिर ठहाका लगाया और एक ने उसकी पीठ पर एक धौल जमा दी। रणजीत कछुए की तरह गर्दन घुसा कुबड़ा बन गया।

•

प्रोफेसर हँसे, उनकी बाछें खिल उठीं। प्रमोद का यह छोटा-सा उत्तर सत्य के मर्म तक का उद्घाटन कर देने वाला था, साथ-साथ प्रमोद के गौरव के अनुकूल भी यह पड़ता था।

सारा क्लास एकदम शांत था, सुई गिर जाने तक की आवाज हो सकती थी। लड़के, अभी तक प्रमोद को रह-रह कर ताक रहे थे और फुसफुसा कर बातें कर रहे थे। प्रमोद सर नीचा किये नाखून कुरेदने लगा था, जैसे कोई अप्रिय घटना घट गयी हो।

घंटी बजते ही पहला आदमी जो तपाक् से उससे मिला—वह था रणजीत। वह जब बहुत खुश होता तो किसी का हाथ पकड़ कस कर झकझोर देता और उसके बाद ही तलहथी पर उँगली गड़ा गुदगुदा देता। उसने प्रमोद के दोनों हाथों को झकझोरते हुए कहा—"मुझे माफ करेंगे, मैंने आपको बुद्धू समझा था।"

प्रमोद मुस्कराया—"आप काफी मजेदार आदमी हैं।"

रणजीत ने झट कहा—"मान लिया न आपने भी?"

और सभी लड़के उसके कहने के ढंग पर मुस्करा पड़े। लड़कों के बीच सिमटता हुआ जब वह आगे बढ़ा तो उसने पाया—सारा क्लास ही उसकी ओर ताक रहा है।

× × × ×

प्रमोद जब क्लास से बाहर निकला, तब उसे खुशी भी हो रही थी—एक झिझक भी। पहले ही दिन अप्रत्याशित रूप से प्रतिष्ठा मिलने के कारण जो आंतरिक आह्लाद उसे प्राप्त हुआ था, उससे उसके चेहरे पर एक चिकनाहट आ गयी थी, आँखों से एक तेज झाँकने लगा था। पर जब किसी छात्र को वह अपनी ओर घूर-घूर कर ताकते देखता, या उसकी ओर इशारा कर आपस में फुसफुसाते पाता, तब अनायास सकुचा जाता। खुशी के मारे उसकी एड़ियाँ जमीन पर बैठ नहीं रही थीं, पर उस झिझक के कारण वह अचानक रुक-रुक जाता

और एड़ी बैठा-बैठा कर कदम बढ़ाता। रणजीत उसके साथ था और उसने ही बताया था कि अब लगभग एक घण्टे तक कोई दूसरा क्लास नहीं, और इसीलिए तब तक के लिए वह जहाँ-कहीं जाने-घूमने को स्वतंत्र था। रणजीत उसे पुस्तकालय ले गया था, जहाँ जीवन में पहली बार उसके मन में यह विचार उठा कि वह कितना हीन और क्षुद्र है— कितना अज्ञान भरा पड़ा है उसमें। ज्ञान का समुद्र कितना विशाल है, और उसके सामने उसकी कितनी छोटी हस्ती है—महज एक बूँद के बराबर, बल्कि उतना भी नहीं। उसे ऐसा लगा कि पुस्तकें एक-एक कर, आल्मारियों से निकल-निकल कर उसके पास आ रही हैं और पूछ रही हैं—तुम यह जानते हो? तुम वह जानते हो? तुमने इसे पढ़ा है? तुमने इसे देखा है? और, तुमने कभी इसका नाम भी सुना है?

प्रमोद सोच रहा था—इन आल्मारियों में जो ज्ञान की पुस्तकें रखी हुई हैं, उनमें कितनों को पढ़ डाला है उसने! यदि कुछ पढ़ा है, तो कितना समझा है! यदि कुछ समझा है तो कितना याद है! और यदि कुछ याद है तो वह फिर उन्हें दुहरा सकता है? प्रमोद ने एक सरसरी निगाह से चारों ओर, ऊपर से नीचे तक सजी हुई पुस्तकों को देखा—उनकी संख्या का एक मोटा अंदाज लगाया, मन ही मन उनके बेशुमार पन्नों की कल्पना की, उनके अक्षरों का अम्बार खड़ा किया—और, तब अपनी ओर देखा, शायद एक अक्षर के बराबर भी उसका अस्तित्व नहीं।

प्रमोद सोचता जा रहा था—जो ज्ञान का घमण्ड करता है, उसे यहाँ बैठा दिया जाय, नियमित रूप से बैठाया जाय। यदि उसमें कुछ भी अक्ल होगी तो वह समझ जायगा अपनी क्षुद्रता को—अपने छिछलेपन को।

अपनी उंगलियों से कपाल को जरा दाब कर उसने तीन-चार बार रगड़ा—इतना विशाल है ज्ञान, पर अज्ञान उससे भी विशाल है। प्याज

के छिलकों की तरह अज्ञान का पर्त हटाते जाओ, पूर्ण ज्ञान मिलेगा नहीं। हमारा प्रत्येक ज्ञान, हमारे प्रत्येक अज्ञान का उद्घाटन करता है। कोई भी ऐसा आदमी नहीं जो सब कुछ जानता हो, पूर्णज्ञानी बन गया हो। और, और यह पूर्ण ज्ञान है क्या?--------

प्रमोद अचानक रुक गया, दूसरी ओर से आकर रणजीत ने उसे टोक दिया था—"क्या सोच रहे हैं आप?"

"कुछ नहीं तो।"

दोनों बाहर आये, प्रमोद गंभीर था और रणजीत मौन। प्रमोद के पेट में कुछ था जो रेंग रहा था और रह-रह कर ऐंठता जा रहा था। उसे कुछ मिचलाहट मालूम हुई और उसने जोर से थूक फेंका। फिर बोला—"रणजीतजी, मेरी तबीयत अच्छी नहीं। पहले सर में दर्द था और अब मिचलाहट मालूम पड़ रही है। सोचता हूँ, डेरे जाकर आराम करूँ।"

रणजीत कुछ समझ नहीं पाया, अनायास उसने कहा—"चलिये, मैं आपको पहुँचा दूँ।"

"नहीं-नहीं, मैं आप चला जाऊँगा। आप कहाँ जायँगे मेरे साथ इस धूप में।"

"कहाँ ठहरे हैं आप?"

"छोड़िये इसे, अभी तो बस एक धर्मशाले में ही ठहर गया हूँ।"

प्रमोद के होठ सूख गये थे, उसका तालु जल रहा था। रह-रह कर कुछ तीखे गैस ऐसी चीज उसके पेट को हिलकोर रही थी, और मुँह तक आकर उसके होठों को मरोड़ दे रही थी। उसी समय दनादन कई घंटियाँ गनगना उठीं।

"अच्छा, तो अब आप जाइये; फिर कल मिलेंगे।" प्रमोद आगे बढ़ गया।

पीपल के बूढ़े पेड़ के नीचे खड़ा होकर रणजीत देख रहा था—नयी

खरीदी हुई कॉपी से, धूप को चेहरे पर पड़ने से बचाते हुए प्रमोद धीरे-धीरे चलता जा रहा था। उसकी गति में एक थकान थी, उस भिखमंगे की एक लड़खड़ाहट थी जिसे न तो अपने पार किये हुए रास्ते से कोई मोह रहता है, और न सामने की राह से कोई आशा। वह उसी तरह बढ़ता जा रहा था, फाटक पर पहुँच कर एक रिक्शे पर धम्म से बैठा और रणजीत की आँखों से ओझल हो गया।

रणजीत ने अधजली सिगरेट सामने फेंक दी, और अपनी मगर के चमड़ेवाली चप्पल से उसे हौले रौंद दिया—सिगरेट के सारे तारोपोद बिखर गये थे।

× × ×

दोपहर दिन, आग उगलता हुआ सूरज, और सामने लम्बी-चौड़ी सुनसान सड़क, जिस पर का तारकोल पिघल कर पचपचा गया था। किनारे, पान की दुकान की छाया में खीरा छील-छील कर बेंचनेवाली बुढ़िया कटोरे का तकिया बना लेटी हुई थी और पास ही बेंच बिछा कर पानवाला सोया हुआ था। उसके नंगे बदन पर पसीने की बूँदें पनपना आयी थीं, और नीचे एक काला कुत्ता अपनी लम्बी जीभ निकाल कर बेतरह हाँफ रहा था। उसका पेट धौंकनी की तरह तेजी से उठ-गिर रहा था। करीब-करीब सभी दुकानों की केवल एक-एक किवाड़ी खुली थी और अधिकांश में से रेडियो पर गाये गये मधुर संगीत की ध्वनि सुनायी पड़ जाती थी। प्रमोद का रिक्शा भागा जा रहा था, और उसके चेहरे पर उबाली हुई गर्म हवा के थपेड़े पड़ रहे थे। दाहिनी ओर एक भिखारिन, फाटक की ऊँची-मोटी दीवार की घनी छाया में ऊँघती-सी बैठी थी और उसके सामने अल्मुनियम का टेढ़ा-मेढ़ा कटोरा किसी मरे हुए व्यक्ति की तरह मुँह बाये पड़ा था। रिक्शावाला दनादन पैडल मारता हुआ रिक्शा भगाये लिये जा रहा था, मानो इतनी सुनसान सड़क उसे जीवन में कभी मिलने को नहीं। प्रमोद की नजर,

पसीने से लथपथ रिक्शेवाले के दोनों पैरों पर पड़ी जो नीचे-ऊपर तेजी से हवा में अनगिनत वृत्त खींचते जा रहे थे, और उनसे छुर-छुर पसीना इस तरह चल रहा था, मानो वह अभी-अभी किसी धार से ऊपर हुआ हो। रिक्शावाला थिर बैठा था—उसकी मैली गंजी भींग कर पीठ से सट गयी थी; और वह कभी बायें से हैंडल पकड़ दाहिने हाथ से कपाल पोंछ लेता था, और कभी दाहिने से हैंडल पकड़ बायें हाथ की उँगलियों से गले पर का पसीना निचाड़ देता था। फिर तेजी से हाथ झाड़ता था, जिससे गंदे छींटे प्रमोद के पैरों पर आ कर गिरते थे। वह एक यंत्र की तरह पैर चलाता जा रहा था, पसीना पोंछता जा रहा था।

प्रमोद के रिक्शे की चेन उतर गयी, रिक्शेवाले ने एक बार नीचे की ओर झुक कर देखा,और पैरों को कई बार तेजी से उलटा घुमा दिया। रिक्शा आगे लुढ़कता जा रहा था। जब वह उतर कर चेन चढ़ाने लगा—प्रमोद ने देखा, उसके तलवे के चारों ओर तारकोल उसी तरह उठ गया था, जैसा कीचड़ में पैर रखने पर होता है। वह सिहर उठा उस तपन की कल्पना कर, जो तवे की तरह जलती हुई धरती पर रिक्शेवाले को हो रही होगी। उसकी इच्छा हुई कि वह उतर जाय, पैदल चला जाय; पर एक तो वह अपने को बहुत कमजोर पा रहा था, दूसरे वह यह निश्चय नहीं कर सका कि वैसा करना रिक्शेवाले के साथ दया दिखलाने की कोटि में गिना भी जायगा या नहीं। उसने देखा—विपरीत दिशा से एक दूसरा रिक्शा चला आ रहा था, जिस पर मलमल पहने दो मोटे-मोटे सेठ, चीनी के बोरों की तरह लदे बैठे थे। उनके कपाल पर अक्षत और लालचंदन सटे थे और एक का चंदन पसीने में मिल कर दाहिनी आँख तक पसर गया था। उस पर का दुर्बल रिक्शावाला उन्हें मुश्किल से खींच पा रहा था, पैडल चलाते समय उसका पतला बदन धनुष की तरह टेढ़ा पड़ जाता था और वह बेतरह हाँफ रहा था।

धर्मशाला के फाटक पर जब प्रमोद का रिक्शा रुका और वह उतरा,

तब उसने देखा—रिक्शावाला पसीने से नहा रहा था। उसके लंबे-लंबे रूखे बालों के बीच से धार बह रही थी, जैसे जंगलों के बीच से भागीरथी निकली हो; उसकी दोनों आँखें लाल हो उठी थीं, जैसे भैंस की आँखें हों; और उसकी गरदन इस तरह चपचपा रही थी जैसे चुल्लू भर तेल डाल दिया गया हो। धूल-भरे पैरों पर पसीने की धाराओं के कारण कई डेल्टे बन गये थे, और उसकी नाक तथा कान की नोंकों से भी टपटप बूँदें चूती जा रही थीं। प्रमोद ने जेब से एक रुपया का नोट निकाला, और कुछ सोच कर उसकी ओर बढ़ा दिया। रिक्शेवाले की तलहथियाँ भी पसीने से तर थीं, और उसने अपनी मैली धोती को उंगलियों के बीच फँसा कर नोट ले लिया था। प्रमोद बिना कुछ कहे मुड़ा, उस समय उसे कुछ ऐसा मालूम पड़ा जैसे पेट में कोई कीलें ठोंक रहा हो। झटपट कोठरी में पहुँच, कपड़े उतार, काँपी से हवा करता हुआ वह चौकी पर पट पड़ रहा—"आह! कितना मुश्किल है आराम पाना!"

× × × ×

पर प्रमोद को आराम मिला नहीं—रह-रह कर पेट में टीसें उठतीं और वह ऐंठ जाता। उसने उठ कर भर पेट पानी पी लिया तो टीसों का उठना कम होने के बजाय और भी बढ़ता ही गया। उसे मिचलाहट अब और अधिक मालूम पड़ने लगी। भीतर कोई ऐसी जलती हुई चीज थी, जो पानी पर तैरती हुई छाती तक आ गयी थी, और प्रमोद को ऐसा मालूम पड़ रहा था कि टीसों के कारण वह उछल उछलकर मुँह की राह बाहर आना चाह रही हो। वह अपना पेट दाबे कसमसा रहा था; अँगड़ाइयाँ ले रहा था, करवटें बदल रहा था।

और इस प्रकार उसे एक कै हुआ। वह नाली के पास बैठ गया था और फिर बहुत देर तक उठ नहीं सका था। उसका सर चक्कर खा रहा था। चौकी तक आते-आते वह टूटी हुई शाख की तरह गिर पड़ा था, उसे मालूम पड़ रहा था कि जैसे उसके पेट में कुछ भी नहीं है, वह

खोखला हो गया है, उसकी शक्ति गायब हो गयी है। टीसो का जोर धीरे-धीरे कम पड़ा और उसे गहरी नींद ने आ घेरा।

शाम को जब उसकी नींद टूटी तो उसे उठने की तबीयत नहीं हो रही थी। खिड़कियाँ और दरवाजे सभी बन्द थे, वह अंधकार में पड़ा था। उसने महसूस किया, उसे जोर का बुखार चढ़ आया है और उसे ठण्ढी हवा चाहिये। पर उसमें इतनी शक्ति भी नहीं थी कि उठ कर खिड़कियाँ खोल दे। गर्मी बेतरह बढ़ती जा रही थी और वह कुलबुला रहा था। आखिर वह उठा, ज्यों ही खड़ा हुआ कि नीचे पड़ा हुआ पीतल का गिलास ढनमनाया और लुढ़क पड़ा। उसका सर चकराने लगा और उसके पैर काँप रहे थे। उसने दीवार का सहारा लिया और कुछ पग चल कर खिड़की खोल दी। ठंढी-ठंढी हवा के झोके जैसे लहरें लेते हुए घुसे और उसके बालों को झकझोर मुड़ गये। प्रमोद को बड़ा अच्छा लग रहा था, वह वहीं सर साटे खड़ा रहा, बहुत देर तक खड़ा रहा।

× × × ×

प्रमोद सोच रहा था—मंगल-मंगल आठ, और आज बुध—नौ दिन हो गये उसे फाकाकशी के। उसे सुबह से ही बुखार नहीं आया है, और मैनेजर साहब ने कहा है कि यदि यही हालत रही तो कल संध्या समय उसे रोटी और परवल का झोर दे दिया जायगा। पूरे चौबीस घंटे हैं अभी से।

उसे याद आया—एक बार गणेश भी इसी तरह बीमार पड़ा था, इसी तरह निर्बल पड़ गया था। नौकर घर चला गया था। और रसोइये ने उसका पैखाना-पेशाब कोठरी से उठा कर बाहर न फेंकने की कसम जनेऊ छूकर खायी थी। तब प्रमोद, चुपचाप रद्दी कागज लेता और उसमें उसका पैखाना समेट बाहर फेंक आता—झाड़ू से पेशाब साफ कर देता। कितना निरीह था वह गणेश......और यह प्रमोद!

इन नौ दिनों के उसके ये कटु अनुभव ! ओह ! मनुष्य जन्मजात व्यापारी ही है क्या ?·········वह मनुष्यता के साथ भी व्यापार करना नहीं छोड़ता !

प्रमोद ने करवट बदली। पीठ पर ठण्ढी-ठण्ढी हवा लगी—एक हल्की सुरफुरी-सी जगी। खिड़की की राह दिखनेवाले ताड़ के बड़े-बड़े पत्तों पर डूबते हुए सूरज की थकी हुई किरणें बेहोश लेटी हुई थीं। दोपहर की आँधी और उसके बाद बादलों की रेलमरेली और तब ये किरणें, ऐसा ज्ञात होता था जैसे बादलों ने रगड़-रगड़ कर आँधी की मैल धो दी हो और तब इन नन्हीं-नंगी किरण-बालिकाओं को ताड़के पत्ते के झूले पर लिटा दिया हो। प्रमोद न जाने कब तक आकाश के बनते-बिगड़ते चित्र देखता रहा—देखता रहा।

सुदूर पूर्व के क्षितिज पर बालारुण का उदय···········

आस-पास लाली, आभा, चमक···········

नन्हें-नन्हें बादलों को चीरती हुई नन्हीं-नन्हीं किरणों की आँख-मिचौनी···········

अरुण कुछ ऊपर चढ़ा···········

आँधी, तूफान, बादल···········

घटाटोप, दुर्द्धर्ष, भीषण···········

आकाश पर मलिन अरुण, निष्प्रभ अरुण, पराजित अरुण ···········

आकाश के बादल सड़क के किनारे पड़े हुए अपाहिज भिखमंगे की तरह न टलते, न हटते···········

जिस अरुण के उदय का आभास, सारी दुनिया को एकक्षण में

मिल गया था, उसका अस्त किसी ने न जाना, न जानने का प्रयत्न किया।

किसी चकवा-चकई के जोड़े ने भी उस अस्त को जाना या नहीं, मालूम नहीं।

निर्दय बादल—अकृतज्ञ दुनिया।············

प्रमोद ने एक लंबी साँस ली, जैसे दूर—बहुत दूर से उसकी साँस भागती हुई पहुँची हो। उसने फिर एक करवट ली, और तकिये पर गाल रख पट पड़ गया, अपनी बाहों को दोनों ओर फैला कर फिर तकिये से मुँह रगड़ कर उसी में छिपा रहा।

सुनन्दा! कितनी विवश है वह आज! उस दिन पटना के लिए रवाना होने के पूर्व, जब वह अनु भाभी से मिलने गया था, वह किवाड़ी की आड़ से देख रही थी। उसका चेहरा उतरा हुआ था, और जब भाभी ने अपने पिता का वह निश्चय सुनाया कि अब सुनन्दा की शादी प्रमोद से नहीं हो सकती, वह किवाड़ी की जंजीर पकड़ फफक कर रो पड़ी थी। रुपया—कितनी बड़ी हस्ती है यह! वह वही है, जो था—सुनन्दा भी वही है, जो थी। अंतर सिर्फ इतना कि पहले लोग उसे धनी कहते थे, अब नहीं कहते; और इसीलिए सुनन्दा के पिता को अपना निर्णय बदलना पड़ा। वे बोले—"दिमाग चाटेगी मेरी बेटी प्रमोद का!" ठीक, दिमाग चाट कर तो जिन्दा नहीं रह सकती। जिन्दा रहने के लिए रोटी चाहिये, और रोटी के लिए पैसे—और ये पैसे, कितने मँहगे।············

अनु भाभी भी रो पड़ी थीं, कितनी भोली हैं वह ! उन्होने छाती से सटा लिया था, और सान्त्वना दी थी। जो आँसू अभी तक बालों में गिर रहे थे, अब गालों पर गिरने लगे। कितनी गर्म थीं वे बूँदें ! कितनी घनीभूत है उनके अंतर की पीड़ा। दिन भर जो वे अपने चर्खे से उलझी रहती हैं, उसके पीछे यही रहस्य है। टकुए की नोंक पर उनकी वेदना के तार बनते हैं और वे उन्हें समेटती चलती हैं, सहेजती चलती हैं। उनके आँचल के सूखे हुए आँसुओं के तार भी क्या कम हैं ! वेदनामयी !————

सुनन्दा भी रोयी, अनु भाभी भी रोयीं—पर प्रमोद ?……नहीं, पुरुष भी रोता है—बहुत-बहुत रोता है ! नारी का, सौ घड़ा आँसू औंटाने पर एक बूँद खून बनता है; पुरुष का सौ घड़ा खून औंटाने पर एक बूँद आँसू !……दो ही चीज कह सकती हैं कि पुरुष कितना रोता है—या तो यह तारों-भरी रजनी, जो अपनी अश्रु-बूँदों के रेखागणित में न जाने कब से उलझी हुई है; और नहीं तो ये तकिये, जो रात भर आँसू पीते रहने के बावजूद, सुबह पथरीली धरती की तरह सूखे नजर आते हैं।----

रोज बनाओ, फिर भी सपने अधूरे ही रह जाते हैं। किसके सपने पूरे हुए हैं ? हाँ, जब वह पाँच-छः साल का था, और पिताजी की गोद में उनकी ऐंठी हुई मूँछो से खेलता था, पकड़ कर जोर से खींचता था, पिताजी की बड़ी-बड़ी आँखों में पानी आ जाता था, और वे उसके कोमल गालो पर अपनी दाढ़ी रगड़ते हुए कहते थे—'मेरा बेटा राजा है, इसे विलायत पढ़ने भेजूँगा।'…………और वह विलायत पहुँच गया। दूसरों की दया पर जी रहा है वह इस विलायत में।…उस दिन मैनेजर साहब ने पूछा था पिता का पता, खबर कर देने के लिए। वह नकार गया था। खबर पाकर उनकी क्या हालत होती ! रात-दिन वे रोते, किसी से पैंचा-उधार लेकर यहाँ पहुँचते और चौकी पर अपना सर पटकते। फिर, या तो ठहाके लगाते, नहीं तो गंभीर बन जाते।

प्रमोद की पपनियों पर आँसू की बूँदें छलछला आयीं। पिता का वह गर्वीला चेहरा सामने आया, फिर ठहाके लगानेवाला रूप, फिर गंभीर मुद्रा, दुर्बल शरीर—और तब उसे चिपका लेनेवाला वह प्रगाढ़ आलिंगन। प्रमोद की आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे थे और तकिये पर पड़ कर पसर जाते थे। प्रमोद ने अपनी आँखें मूँद लीं, तकिये का भींगा हुआ अंश उसके दाहिने गाल को जला रहा था—जलाता रहा था।

× × × ×

प्रमोद की जब नींद टूटी तो उसने पाया—कमरे में बिजली जल रही थी, बाहर झमाझम मेघ बरस रहे थे, और उसके शरीर पर एक महीन चादर पड़ी थी। उस कोठरी का दरवाजा खुला था, नौकर शायद कहीं बाहर गया होगा। दरवाजा होकर बाहर ओसारे तक प्रकाश की सुनहली चादर बिछ गयी थी, और उस पर वर्षा के मोती-से दाने गिर रहे थे—चमक रहे थे। वर्षा से वह प्रकाश की चादर कुछ दूर तक भींग गयी थी, और उस जगह पीतल का जो लोटा पड़ा था, उस पर की पानी की बूँदें चमक रही थीं। प्रमोद सूनी आँखों से यह सब देख रहा था।

नौकर आया और उसने एक डकार लिया। प्रमोद ने पानी माँगा। पानी लेकर जब वह चौकी तक आया तब प्रमोद ने समय पूछा। नौकर बोला—"ग्यारह बजे हैं बाबू! ठण्ढी-ठण्ढी हवा में खूब नींद आयी। मैनेजर साहब आये, चादर ओढ़ा कर चले गये। रणजीत बाबू भी आये थे, कुछ देर बैठे, आपको जगाया नहीं। वह जो आप की कॉपी और किताब थी न सिरहाने, उसे कुछ देर उलटा-पुलटा, फिर लेकर चले गये। बोले, कल शाम को फिर आयँगे।

प्रमोद, बिजली के बल्ब को सूनी आँखों से देखता रह गया था। पानी पीकर फिर वह उसी प्रकार चित पड़ रहा और ऊपर छत की ओर ताकता रहा। नौकर ने पहले नब्ज पर हाथ रखा और फिर कपाल पर।

फिर वह दरवाजे के पास ही लेट गया। अचानक उठ कर रोशनी गुल करने लगा कि प्रमोद ने मना कर दिया। वह प्रकाश देख रहा था और वह उसे बड़ा अच्छा लग रहा था। खिड़की की ओर ताका—काले बादलों के बीच एक बड़ा-सा तारा तिर रहा था।

•

मनुष्य जो सोचता है, होता ठीक उसके प्रतिकूल है।....इसीलिए उसकी गति में एक आघात पहुँचता है, वह ढनमना कर गिर जाता है। यदि वह पर्याप्त शक्तिशाली रहा तो किसी प्रकार उठ कर लंगड़ाते हुए पुनः अपने गन्तव्य पथ पर अग्रसर होगा, नहीं तो बस—वहीं इति-श्री। दूसरा, पीछे मुड़ जायगा। आगे बढ़नेवालों और पीछे मुड़नेवालों—दोनों में गति है, भेद है आगे और पीछे का। ये किसी प्रकार गतिमान् रहनेवाले देवता और दानव हैं। ठोकर खाकर गिर जाने, और पुनः वहीं पड़ा-पड़ा दम तोड़ देनेवाला ही सच्चा मानव है। हाँ, शत प्रतिशत मानव। पड़ा रहा, कराहता रहा, चुपचाप आँसू गिरता रहा—तो मानव; उठ कर हँसते हुए गतिरोधों को कुचलते हुए चल दिया—तो देवता, पुरुषोत्तम; और यदि नीचे लुढ़क पड़ा, पीछे पैर मोड़ दिया—तो दानव, राक्षस।

एक ही व्यक्ति के तीन व्यक्तित्व, प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों की समष्टि है।

प्रमोद देख रहा था—बल्ब प्रकाश बिखरे रहा था, हवा के झोंकों से हौले-हौले डोल रहा था। उसके टीन के ढक्कन की गोलाकार छाया भी छत पर उसी प्रकार डोल रही थी—मानों एक लहराते हुए छोटे

तालाब में किसी कमल की छाया हिल रही हो। प्रमोद बहुत देर तक देखता रहा—लहराते हुए, डोलते हुए। उसकी आँखें खुली थीं, पर मन की आँखें बन्द होती जा रही थीं—उसकी आँखें स्थिर थीं, पर मन की आँखें बहुत दूर चली गयी थीं।

जीवन, छोटी-छोटी घटनाओं की एक शृंखला-मात्र है। जहाँ इसका श्रीगणेश होता है, वहाँ मृत्यु का एक कुण्ड है—जहाँ इसकी इति-श्री होती है, वहाँ भी एक कुण्ड है। मृत्यु के एक कुण्ड से निकल कर, शृंखला की कड़ियाँ गिनते हुए, मृत्यु के दूसरे कुण्ड में समा जाना—यही मानव-जीवन है।

मृत्युकुण्ड—एक रक्ताभ कमल उद्‌भूत हुआ।

लाल-लाल, सुन्दर, मोहक।

शृंखला की पहली कड़ी उसके मुँह में थी।

कोमल कमल, कठोर कड़ी। कमल चिहुँक उठा, जोर से रो पड़ा। उसकी देह में सरसता भर ही तो थी, खारापन अभी तक आ नहीं पाया था।

मृत्युकुण्ड का वह चीखता हुआ रक्ताभ कमल। चारों ओर हल्की, तीखी और कभी न बुझनेवाली आग। कमल की पंखुरियाँ सिमटी हुई—जैसे सद्य-स्नाता बालयुवती के महीन परिधान उसके शरीर से सट गये हों—सर एक ओर को झुका हुआ। यह एक प्राकृतिक संयोग था। प्रकृति के अलक्ष्य हाथों ने चुपके-चुपके इसका निर्माण किया—सँवारा, संभाला—एक शिल्पी की तरह, और एक दिन सूरज की प्रथम रश्मि के साथ अपनी उस कला को विश्व के सम्मुख उपस्थित कर दिया। ऊषा ने लाल-लाल अनुराग लुटाया। गुलाबों ने चुटकियाँ बजा-बजा कर मंगल गीत गाये और मलयानिल ने आकर उसके कपोल चूम लिये।

पंखुड़ियाँ खुल पड़ीं—झूमने लगीं। उल्लास में कमल ने ऊपर आकाश की ओर ताका, छाती तान कर।

किनारे की अग्नि की लपलपाती शिखाएँ; ओह! काल की अगणित रोमांचकारी जीभों की तरह चारों ओर से मध्य की ओर बढ़ीं। किनारे से मध्य तक फैली हुई अग्नि—जैसे समुद्र का एक विशाल तरंग पवन के हिंडोले पर झूल रहा हो या किसी पहाड़ी का चिकना लाल ढालू पठार हो। कमल ने देखा, चौंक उठा। वह झुलसता रहा, तपता रहा, भुनता रहा।

और फिर उसकी सहनशक्ति ने जबाब दे दिया। कमल पीड़ा से कराह उठा और सोचने लगा—ये शिखाएँ मुझे जला ही क्यों न देतीं—तपाना छोड़ कर निगल ही क्यों न लेतीं। पर शिखाएँ उसके बदन को छूतीं, फिर हट जातीं—फिर छूतीं और हट जातीं—जैसे बिच्छू डंक मार-मार कर अपनी पूँछ समेट लेता है। वह अब शिखाओं का स्वागत करता है—बुलाता है; उन्हें ऐसा अवसर देता है जिससे वे एकबारगी ही उसे भस्मीभूत कर दें। वह पत्थर की तरह अडिग खड़ा है। पर शिखाओं का तो पुराना ही क्रम जारी रहा—तिल-तिल कर जलाना—रह-रह कर डंक मारना।

अन्त में एक दिन कमल ने सोचा—यदि इनसे त्राण पाना है तो प्राणों का मोह छोड़ देना होगा—इनसे जूझना होगा, इन्हें परास्त करना होगा। उसने एक लंबी साँस ली, उसके नथुने फूलने लगे, क्रोध से उसका चेहरा लाल हो उठा। और तब—शिखाओं के मस्तक पर पैर रखते हुए, उनका दर्पदलन करते हुए वह आगे बढ़ा। शिखाओं के मस्तक पर आरूढ़ कमल, जैसे सहस्रों सुनहली नागिनों को नाथते हुए बालकृष्ण। शिखाओं ने लपेटना चाहा—अब उसे निगल लेने को भी तैयार हुईं—पर वह मृत्युञ्जय-सा बढ़ता ही गया—आगे पैर बढ़ाता ही गया। सारे शरीर पर फफोले—ढल-ढल, पैरों की चमड़ियाँ चिट्टी-चिट्टी। उसने दम लिया तो किनारे पर ही आकर।

कमल की सारी देह में जलन थी, पवन का झोंका उसे और भी कष्ट पहुँचा रहा था। वह बालू पर लेटा हुआ नीलाकाश देख रहा था और छटपटा रहा था। वह फफक-फफक कर रो रहा था—कोई सहायता पहुँचानेवाला नहीं, कोई सुननेवाला नहीं। वह बालू पर छटपटा रहा था—क्षण-क्षण करवटें बदल रहा था; पर जलन ऐसी कि घटने के बजाय बढ़ती ही चली जाती थी। लोटता-लोटता वह एक बार टघा और तब पूर्ण आश्चर्य के साथ उसने देखा कि वह मृत्यु के दूसरे कुण्ड के किनारे पड़ा है। अपार शांति! क्षण भर उसे लगा कि उसकी सारी जलन समाप्त हो गयी है। उसे लगा कि शून्य नीलाकाश में एक दरार पड़ गयी है और उससे अमृतोपम, शीतल और आनन्ददायिनी किरणें झाँकने लगी हैं—उसके ढल-ढल फफोलों को रूई के फाहे से सहला रही हैं। उसकी आँखें चौंधिया गयीं, उसने पपनियों को तलहथियों से रगड़ कर पुनः एक बार देखा—शून्य नीलाकाश, न दरार, न किरण—कहीं कुछ नहीं, सिर्फ एक भ्रमजाल।

उसे फिर जलन मालूम हुई। उसने करवट बदली और फिर चिहुँक उठा आश्चर्य से। यह क्या? यह तो वही, जीवन की शृंखला पकड़े उस मृत्यु कुण्डवाली आग बढ़ती चली आ रही है। शृंखला, जैसे बारूद में सनी हो। न जाने क्यों, कमल हँस पड़ा, पहले धीरे—फिर उसने जोर का ठहाका लगाया। आग को यदि वह जीत नहीं सका तो कम से कम दौड़ में तो पीछे अवश्य ही डाल दिया था। ठहाके की ध्वनि दसों दिशाओं में गूँज उठी और वह अपनी ही प्रतिध्वनि सुनता रहा। वह और भी जोर से ठहाके लगाने लगा—उसके अन्दर तीव्रतम वेदना की गहन अनुभूति फूट कर निकल जाना चाह रही थी।

अपने शत्रु को—उस आग को परास्त करने की बात उसने सोच ली। उसने दांत मींचे, कस कर अंगड़ाई ली और कितने ढल-ढल फफोले फूट गये। आग, जब उसे पुनः छूने को ही थी कि वह उस शांत मृत्युकुण्ड

में कूद पड़ा। एक शब्द हुआ जो अंतरिक्ष में लीन हो गया—एक लहर उठी जो अनन्त में खो गयी।

आग को शंका हुई—अपनी हार पर उसे विश्वास नहीं हुआ। कहीं डुबकियाँ ही लगाता हो—मृत्युञ्जय जो ठहरा। वह आगे बढ़ी, जिस जगह छपाक् का शब्द हुआ था और गोल-गोल लहरें उठी थीं—वहाँ पहुँची। देखा-भाला, कहीं कोई चिन्ह नहीं। अचानक वह गंभोर बन गयी, अपनी सारी शक्ति अपने में संग्रहीत कर—सिमटा कर जल में कूद पड़ी। थोड़ी देर तक जल की सतह पर धीमी-धीमी लपट होती रही—पुनः सब अंतर्धान।

दूसरे दिन लोगों ने देखा—कुण्ड के किनारे एक भस्मीभूत शृंखला की राख पड़ी है—जली हुई रस्सी।

प्रमोद की पलक मुँदने लगी—मुँदने लगी। फिर खुली और फिर मुँद गयी। वह छोटी-छोटी साँसे ले रहा था।

× × ×

दूसरे दिन दोपहर से ही प्रमोद को बेतरह भूख सताने लगी। उसे नींद नहीं आ रही थी और रह-रह कर वह आकाश की ओर ताकता कि झटपट शाम हो और उसे चंद रोटियाँ खाने को मिलें। नौकर पास ही बरामदे में सोया था। उसकी इच्छा होती कि वह उसे जगावे और रोटियाँ सेंक देने को कहे। पर वह कह नहीं सकता—बेबसी थी। वह सोचता, यह तो मैनेजर साहब की कृपा है कि उन्होंने यह कोटरी दी है, बीमार पड़ने पर सभी प्रकार के प्रबन्ध किये हैं और इस नौकर को चौबीसों घंटों के लिए खिदमत में लगा दिया है। उस पर उसका क्या अधिकार। यदि अभी उसे जगा दिया जाय तो मन ही मन रंज होगा, न जाने क्या-क्या सोच जायगा। उल्टी-सीधी बातें भी बोल सकता है, कुछ कड़े शब्द भी कह दे सकता है। यही सोचता-सोचता वह करवटें बदलता रहा। खिड़की से धूप और छाया की आँख-मिचौनी देखता रहा।

चार बजने पर प्रमोद भूख से व्याकुल हो उठा। उसी समय, चेनी से मैनेजर साहब ने आवाज दी तो नौकर आँखें मलते-मलते जगा। उठा तो बहुत देर तक बैठा ही रहा—हाफियाँ भरता रहा। उसने अंगड़ाई ली और फिर लुढ़क गया। प्रमोद यह सब देख रहा था, उसे एक-एक क्षण पहाड़-सा लग रहा था। उसकी इच्छा हुई कि वह उसे डाँटे। पर नहीं, वह तो प्रमोद का नौकर नहीं है।

प्रमोद की भूख को झकझोरते हुए एक-एक कर, किसी दूर की घड़ी में पाँच घण्टे बजे। प्रमोद अकुला उठा। वह उठा और खिड़की के पास दीवार का सहारा लेकर खड़ा हो गया। सटे-सटे मकानों की दूर-दूर तक फैली हुई छत। किसी पर लाल साड़ियाँ फड़फड़ा रहीं, कहीं धोतियाँ बाँस के डंटे से लिपटी पड़ी हुईं। किसी पर हवा के झोकों में छोटे-छोटे कपड़े उड़ कर नीचे सिमटे पड़े हुए और किसी छत पर पास ही के वृक्ष के झरे-सूखे पत्ते जमे हुए। कभी छोटा, कभी बड़ा बादल दौड़ता हुआ आकाश में सूरज तक पहुँचता और उसी रफ्तार से जमीन पर छाया दौड़ती हुई आती और धूप भाग जाती। फिर छाया के पीछे से धूप दौड़ती हुई आती और छाया एक पर एक छत छलाँग मारती हुई पार कर जाती।

प्रमोद ने खिड़की से नीचे देखा। एक आंगन, जिसमें केले के बहुत से पेड़ एक ओर लगे हुए थे। एक किनारे नींबू का एक पेड़ था और दोनों के बीच डोरी की एक अलगनी टँगी थी। उस पर एक सफेद साड़ी बीच में सूख रही थी, जिसकी एक ओर एक जम्फर और एक तौलिया सूख रहे थे और दूसरी ओर रेशमी चोली—हरी-हरी। प्रमोद हवा में झूलती हुई उस चोली को थोड़ी देर देखता रहा, फिर खिड़की की पतली चौखट पर अपना भारी कपाल रख खड़ा रहा।

प्रमोद की तंद्रा उस समय भंग हुई जब कि रणजीत ने पीछे से आकर उसकी आँखें बंद कर दीं। वह आँखें मूँद तो नहीं सका, हाँ अपनी

सहानुभूति और सौहार्द्र जता गया। प्रमोद, एक लंबी सांस लेता हुआ मुड़ा, रणजीत के कंधों का सहारा लेते हुए फिर चौकी पर आकर बैठ रहा।

रणजीत ने पायताने बैठते हुए कहा—"खा चुके?"

प्रमोद ने दोनों हाथों को पीछे कर अपने सर के नीचे रखते हुए माथा डुला दिया नकारात्मक। रणजीत उसका चेहरा देख रहा था। पास ही प्रमोद की वह नयी कॉपी मरोरी हुई रखी थी जिसमें बीमारी के प्रारम्भ में ही प्रमोद कुछ अपने चिन्तन पेंसिल से लिख गया था। रणजीत देख रहा था—प्रमोद अत्यधिक गंभीर है, उसका दिमाग जैसे कुछ सोच रहा हो। थकी हुई पलकें आधी मुँदी हुईं थीं जैसे वह ध्यानावस्थित योगी की तरह अपनी नासिकाग्र पर दृष्टि गड़ाये हुए हो। उसके दोनों हाथ अगल-बगल सीधे पड़े थे, रह-रह कर वह अपनी उँगलियाँ चटकाने लग जाता था। पोर-पोर को चटका देता था फिर पैरों को कड़ा कर उन्हें भी चटका देता था। इसके बाद फिर उसने लम्बी साँस ली और आँखों को खोल दिया।

"पढ़ाई तो तेजी से चल पड़ी होगी।"

"हाँ, सभी क्लास बाजाता होने लग गये। ....लोग तुम्हारे बारे में पूछ-ताछ करते हैं। वह फुदनेवाली लड़की है न, कल बोल रही थी कि पहले दिन के बाद से ही गदहे के सींग की तरह गायब हो गया।"

प्रमोद के होठों पर एक हल्की मुस्कुराहट आयी और फिर चली गयी। रणजीत ने महसूस किया—कुछ ऐसी ही बात की जाय तो शायद उसका दिल वहल जाय। "लड़के सब भी बड़ी जिज्ञासा से पूछते हैं तुम्हारे बारे में। कई तो आने को कह रहे थे, पर मैंने ही मना किया कि भई, वह जरा दूसरी तबीयत का आदमी है, शायद उसे अच्छा न लगे।

प्रमोद ने फिर आँखें मूँद लीं और उसी तरह कहा—"तुमने अच्छा किया।" रणजीत फिर उसका चेहरा देखने लगा। वह जितना ही समझने का प्रयत्न करता था, उतना ही उलझ जाता था। उसने प्रमोद को इन नौ-दस दिनों में बहुत बार विभिन्न मुद्राओं में देखा है, उसने कई बार इस पर सोचा भी है, पर वह अब तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका है। कभी वह सोचता—प्रमोद सतत् किसी गहरी वेदना में डूबा रहता है और वेदना में उसे उतना ही आनन्द मिला करता है जितना कि किसी योगी को अपनी समाधि में। उसकी कॉपी पर लिखे कतिपय वाक्य इसी सत्य की ओर इंगित करते हैं। फिर सोचता—उसके हृदय में शायद कोई गहरा घाव है, जिस पर मन ही मन रोते हुए वह हमेशा मलहम चढ़ाया करता है। यहाँ भी रणजीत टिक नहीं पाता, सोचता—शायद प्रमोद के पास कोई अपरिहार्य दुर्बलता है जिसको वह निरपेक्षता के आवरण में छिपाये रखना चाहता है।

इस बीच आगे-आगे नौकर, थाली में पतली-पतली कई रोटियाँ लिये भीतर घुसा और पीछे-पीछे मैनेजर साहब ने भी प्रवेश किया। रणजीत उठ खड़ा हुआ और इस आशा से कि अब प्रमोद भी आँखें खोल देगा—उसकी ओर ताकने लगा। पर प्रमोद एकदम थिर पड़ा था, उसकी आँखें मुँदीं ही रहीं, वह न हिला—न डुला। मैनेजर ने एक बार हल्के पुकारा भी तो वह ज्यों का त्यों ही पड़ा रहा।

रणजीत ने भी पुकारा और उसका सर हौले डुला दिया। प्रमोद ने आँखें खोल दीं। उसकी आँखों में एक अजीब मूर्च्छना थी और ऐसा लगता था कि वह किसी स्वप्नलोक में विचरण कर रहा था। सपनों को सहेजती हुई-सी उसकी पलकें फड़फड़ायीं और वह तत्क्षण उठ बैठा। उसके मुँह से सिर्फ इतना ही निकला—"हूँ!"

कोठरी में प्रकाश जगमगा रहा था। सामने नौकर थाली लिये खड़ा था और उसकी दोनों ओर मैनेजर और रणजीत खड़े थे। उसने

नौकर की ओर ताका और कुछ क्षण ताकता रहा, फिर बोला—"रणजीत कहाँ चला गया ?"

मैनेजर साहब बायीं ओर से उसके पास आये। नब्ज देखी, कपाल पर हाथ रखा—दोनों पसीजे हुए थे बेतरह। फिर सामने बैठ गये—"तुम सो तो नहीं रहे थे बेटा ?"

"जी नहीं तो"—प्रमोद अनायास कह गया। रणजीत ने भी उसका कपाल देखा और कहा—"बुखार तो नहीं है मैनेजर साहब !"

"कमजोरी है। सब ठीक हो जायगा।" और यह कहते हुए मैनेजर ने नौकर से थाली लेकर उसके सामने रख दी। नौकर ने प्रमोद को हाथ धुलाया।

प्रमोद सर लटका कर खाता रहा—तीनो उसकी ओर चुपचाप तब तक ताकते रहे।

× × ×

अवसर पाकर रणजीत ने प्रश्न छेड़ा—"प्रमोद, तुम किसी योग की तो साधना नहीं करते ?"

"नहीं तो !"

"तो फिर ऐसा क्यों होता है कि तुम यहाँ बैठे-बैठे ही कहीं दूर चले जाया करते हो ? सिर्फ तुम्हारा शरीर ही यहाँ रह जाता है, सारी इन्द्रियाँ न जाने कहाँ केन्द्रीभूत हो जाया करती हैं ?" प्रमोद चुप रहा। ऐसे प्रश्न की उम्मीद उसे नहीं थी—कुछ ऐसी बात भी उसके साथ नहीं थी। रणजीत कहता गया—"मैंने कई बार देखा है, तुम्हारा दिमाग कहीं दूर चला जाया करता है। कोई विषय मिला और तुम्हारे दिमागने छलाँग लगायी। फिर वह विषय भी अपनी जगह पर है, तुम भी अपनी जगह पर हो, लेकिन तुम्हारा मस्तिष्क जैसे शून्य में भागता जा रहा है।"

"मैं स्वयं नहीं कह सकता रणजीत, कि क्या बात है। पर यह सत्य है कि मेरा दिमाग बहुत भागता है और सिर्फ भागता ही नहीं—बहुत

तेजी से दौड़ लगाता है। मैं थक जाता हूँ। ऐसे अवसर आये हैं जब मैं सोचने लग गया हूँ कि कपाल फोड़ कर उस माँस-पिण्ड को खींच कर बाहर निकाल दूँ जो इस तरह भटकते रहना पसंद करता है—जो इस तरह मेरी नसों को खींचता है—ऐंठता है।" प्रमोद एक वेदना-मिश्रित स्वर में बोला।

रणजीत फिर कुछ क्षण चुप रहा और बोला—"इसका कोई न कोई कारण तो होगा ही।"

प्रमोद कुछ देर छत की ओर देखता रहा—"कुछ पता नहीं लगता.... पर एक कारण हो सकता है। न जाने क्यों, मैं कुछ इतना हल्का हो गया हूँ कि मैं कहीं प्रविष्ट नहीं कर पाता। जिस तरह रबर का कोई फूला हुआ फुक्का पानी में डुबा देने से भी बार-बार उछल कर बाहर आ जाया करता है, उसी तरह मैं जबरन अपने को दुनिया में प्रविष्ट करता हूँ, पर बार-बार बाहर फेंक दिया जाता हूँ। साथ ही मैं इतना खोखला भी हो गया हूँ कि सारा शून्य मुझमें समा जाय।....हल्का और खोखला पदार्थ! उसकी जो स्थिति होती है वही मेरी हो गयी है।"

रणजीत गंभीर बन गया, उसकी आवाज भारी हो गयी—"वे परिस्थितियाँ कौन-सी हैं?" प्रमोद सीधा नकार गया—"मुझे एकदम नहीं मालूम। न जाने कौन-सी शक्ति अप्रत्यक्ष रूप से मुझे ऐसा होने को बाध्य कर देती है।"

रणजीत ने भाँप लिया जैसे—"तुम मुझसे छिपा रहे हो, इसके पीछे कोई कहानी जरूर है।"

प्रमोद थोड़ा मुस्कुरा पड़ा—"कोई कहानी नहीं, मेरे जीवन में कोई भी कहानी नहीं घटी। सब कुछ जैसे प्राकृतिक रूप से ही होता आया है। दिन के बाद रात—बहार के बाद बरसात। मेघों की रेलमरेली, बिजलियों की कड़क—सब कुछ स्वाभाविक।"

कोठरी में एकदम स्तब्धता छायी हुई थी। रणजीत, सिगरेट निकाल

कर पीने लग गया था, और उस धुएँ को देखने लग गया था जो कि शनैः-शनैः प्रकाश बिखराते हुए बल्ब की ओर बढ़ता जा रहा था।

"तुम्हारे विचार कुछ इस प्रकार के होते हैं जो झकझोर देते हैं, पर साथ ही उटपटाँग मालूम पड़ते हैं"—रणजीत कुछ ऐसी तेजी से कह रहा था जैसे वह यह कह सकने का साहस नहीं कर रहा हो फिर भी बिना बोले उससे रहा नहीं जाता हो।—"इस कॉपी में देखो यह तुमने क्या लिख मारा है! 'वासना, मनुष्य की भावना है, भगवान् उसका चिन्तन। वासना, मनुष्य की भूख है, भगवन् उसका विलास। वासना, भगवान से अधिक प्रबल है।'—यह क्या उटपटाँग बात है?"

प्रमोद हँसा, उसने तलहथी से अपनी आँखें पोंछीं—"यह सिर्फ मेरा ही विचार नहीं है, बड़े-बड़े लोगों ने भी ऐसी बातें कहीं हैं। भगवान्, स्वयं वासना की उपज है। मनुष्य की पारलौकिकता की भूखने अपनी प्यास मिटाने के लिए कुछ चाहा। मनुष्य के चिन्तन ने उसे एक चीनी का खिलौना दिया—भगवान्। हम, भगवान् के पिता है, हमने उसका आविष्कार किया है। और प्रबल? वासना, वास्तव में भगवान से बहुत अधिक प्रबल है रणजीत। सभी सन्तों का यही कहना है, जिस हृदय में वासना है, वहाँ भगवान् को सात जनम में भी झाँकने का साहस नहीं होता।" रणजीत तपाक से बोल उठा—"पर यह बात भी उतनी ही सत्य है कि जिस हृदय में एक वार भगवान् की पैठ हो गयी, वहाँ फिर वासना की दाल नहीं गलती—चाहे वह कितना ही सर मारे।" प्रमोद इस बार कुछ जोर से हँसा—"तुम गलती कर रहे हो।" उसने जलते हुए बल्ब की ओर ताका और फिर कहा—"देखो, वह वल्ब जल रहा है न, ६० कैंडल-पावर का है शायद। यह बल्ब जला, अन्धकार खत्म हो गया; ठीक उसी प्रकार जैसे भगवान् आया और वासना चली गयी।"

रणजीत जैसे उछल पड़ा—"हाँ-हाँ। मैं भी तो यही कह रहा हूँ। अब जब तक यह रोशनी है, अंधकार आ ही नहीं सकता।"

"सुनो, तो तुम क्या समझ रहे हो कि यहाँ अन्धकार नहीं है? अभी सौ कैंडल-पावर का वल्ब लगा दो, प्रकाश अधिक हो जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि ६० कैंडल-पावर के जलने के समय तक जो यहाँ अंधकार शेष रह गया था, वह और भी खत्म हो गया। दो सौ का लगा दो, अंधकार और हट जायगा; हजार का लगा दो अंधकार और भी खत्म हो जायगा। और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि सबसे अधिक प्रकाशवाला सूरज लाकर रख दो, अंधकार तब भी बना रहेगा। प्रकाश का अंत हम पा सकते हैं—अधिक से अधिक जेठ की दोपहरी का सूरज। पर अंधकार? उसका अंत हम नहीं पा सकते। हजार सूरज भी मिल कर अंधकार की सत्ता खत्म नहीं कर सकते।.........तुम उस सूरज की प्रार्थना करते हो जो अंधकार को युगों से परास्त करने में लगा हुआ है। मैं भी उसके साहस की प्रशंसा करता हूँ। पर, उस अंधकार को क्या कहूँ जो विश्राम लेता ही नहीं और मौका पाते ही सूर्य को दबोच लेता है।..............तुम्हारा प्रकाश? तुम्हारा प्रकाश बहुत अक्षम है रणजीत? वह एक बार इस छोटी-सी दुनिया को भी आलोकित नहीं कर सकता। इतना सीमित है वह, और कितना असीम है यह अंधकार!"

प्रमोद की आवाज क्रमशः क्षीणतर होती गयी और वह हाँफने-सा लगा। रणजीत टुकुर-टुकुर उसका मुँह ताक रहा था और उसके हाथ में जलती हुई सिगरेट के धुएँ का एक रेशा शून्य में डोल रहा था।

प्रमोद ने जैसे अंतिम बात कही हो—"और भगवान् को जिस अर्थ में सारी दुनिया लेती है, उस अर्थ में मैं नहीं लेता। भगवान् का अर्थ है सदिच्छा—निर्कलुष वासना।"

प्रमोन ने आँखें मूँद लीं—वह थक गया था। रणजीत कुछ देर और बैठा रहा, फिर जाने की इच्छा से दरवाजे तक पहुँचा। उसी समय प्रमोद ने पुकारा—"जा रहे हो तुम?...एक सिगरेट पिलाओगे मुझे?"

× × ×

लगभग पन्द्रह दिनों के बाद प्रमोद आज पुनः कालेज आया है। उसके बड़े-बड़े बाल यद्यपि बिखरे हैं, पर तरतीब से छँटे हैं, दाढ़ी घुटी हुई है और मूँछें जरा नुकीली कटी हुईं। उसकी आँखें रणजीत को खोज रही थीं, क्योंकि उसे कुछ ज्ञात नहीं था कि कब कौन क्लास कहाँ होने जा रहा है। दो दिनों से वह धर्मशाला भी नहीं गया था, इसलिए उसे पता भी नहीं होगा कि आज प्रमोद कॉलेज आया है। आस-पास के लड़के प्रमोद को इस तरह ताक रहे थे जिससे उसने सहज ही अंदाज लगा लिया कि वे उसे जानते हैं, संभवतः उसी के क्लास के सहपाठी हैं। उसकी इच्छा हो रही थी कि क्लास के बारे में उनसे पूछताछ कर ली जाय; पर न जाने कौन-सी अहम्मन्यता ने उसे दबा दिया। बड़े पीपल के नीचे खड़ा होकर वह रास्ते की ओर ताक रहा था कि शायद रणजीत अभी आ ही रहा हो। लड़के उसे देख कर आपस में फुसफुसा रहे थे और प्रमोद रह-रह कर राह की ओर ताकने के बाद फिर सर लटका अपने चप्पल से या तो सूखे पत्ते को मसलने लगता नहीं तो यों ही मिट्टी कुरेदने लगता।

प्रमोद ने देखा, एक सूट-बूट धारी शौकीन नवयुवक कुछ हँसते हुए उसकी ओर तेजी से बढ़ता आ रहा था। प्रमोद ने अपने पीछे देखा, शायद उधर किसी को देख कर वह इस तरह मुस्कुरा रहा हो। कहीं कोई नहीं था, प्रमोद को आश्चर्य हो रहा था। इतने में नवयुवक तपाक् से उसका हाथ थामता हुआ बोल उठा—"हेलो प्रमोद, तुमने मुझे पहचाना नहीं ?" प्रमोद उसी तरह हाथ मिला रहा था जैसे बाक्सिंग में हारा हुआ प्रतिद्वन्दी समाप्ति पर विजयी से हाथ मिलाता है। उसने बिना कुछ बोले सर को झुनझुने की तरह दायें-बायें डुला दिया। "इतनी जल्दी भूल गये मुझे ? अरे, मैं गणेश हूँ।"

प्रमोद आश्चर्य और उल्लास मिश्रित दृष्टि से कुछ क्षण एकटक देखता ही रह गया। फिर वह गणेश से लिपट गया—"अरे !……ओह ! पूरे पाँच वर्षों बाद हम मिले।" तुम तो बिल्कुल बदल गये हो।"

"मुझे कॉलेज खुलने के दिन ही पता लगा कि तुमने यहाँ नाम लिखाया है। दूसरे दिन पूछ-ताछ की तो तुम्हारा कुछ पता ही नहीं। सुना, बीमार पड़ गये। डेरे की भी खोज़ की पर कोई जानता ही नहीं था। अभी देखा तो कुछ देर देखता ही रहा। तुम काफी दुबले पड़ गये हो, पहचानने में भी देर लगी पर बगल में वह लड़का तुम्हारा नाम फुस-फुसा रहा था तो फिर सारा संदेह जाता रहा।"—गणेश एक साँस में कह गया जैसे वह कॉलेज आने के समय इन वाक्यों को रट कर आया हो।

प्रमोद धीरे हँस पड़ा—"छोड़ो इसे, कहो, तुम यहाँ क्या कर रहे हो?"

"यहाँ? एम० ए० में पढ़ रहा हूँ जी, हिस्ट्री लिया है।.........एक लम्बी कहानी है यहाँ तक पहुँचने की।"

प्रमोद ने तब तक पैर बढ़ा दिये थे, वह कैफे की ओर चल पड़ा था। गणेश भी साथ-साथ कहता जा रहा था—"बाबूजी और माताजी कैसी हैं? चाचा, भैया ...."

प्रमोद का सर झुक गया था—"सभी अच्छे हैं ....माताजी चल बसीं....भैया भी चल बसे।"

"अच्छा?"—गणेश के मुँह से अनायास निकला और उसका सर, सहानुभूति दर्शाने के बोझ से झुक-सा गया।

तब तक दोनों कैफे में पहुँच गये थे। प्रमोद पानी पीना चाह रहा था पर गणेश ने चाय पी लेने की जिद की।

प्रमोद कुर्सी पर बैठ गया था और गणेश टेबुल का सहारा लेकर खड़ा था कि उधर से रणजीत अपनी टोली सहित आ धमका। "हैलो-हैलो" की रस्म अदा की गयी और तब रणजीत प्रमोद की कुर्सी की बाँह पर बैठ कर बोला—"अभी तुम्हारे यहाँ से ही आ रहा हूँ। पता चला कि हजरत आज कॉलेज तशरीफ ले गये हैं।"

प्रमोद ने एक धीमी हँसी हँस दी। तब तक रणजीत कहने लगा था—

"साथियो ! ये हैं श्री प्रमोद कुमार जिनकी चर्चा एक सप्ताह से मैं आप लोगों से कर रहा हूँ ।"

और फिर "हैलो-हैलो", हाथ मिलाने आदि की विधि पूरी की गयी। पर गणेश मंद-मंद मुस्कुराता ही रहा ।

रणजीत ने कहा—"गणेश, हाथ मिलाओ ?"

"मैं हाथ मिला चुका हूँ रणजीत ! "

"अच्छा ! तो आप दोनों में पहले से ही परिचय है ?" रणजीत ने पहले गणेश और तब प्रमोद की ओर ताका एक प्रश्नसूचक दृष्टि से ।

"आज से नहीं, लगभग छ वर्षों से ।"

और तब चाय आयी । रणजीत ने सिगरेट निकाली और सब की ओर केस बढ़ाया एक-एक कर । प्रमोद के पास वह थोड़ी देर के लिए ठिठका पर फिर बढ़ा दिया । प्रमोद थोड़ा हँसा फिर उसने सिगरेट ले ली । चुस्कियाँ लेते हुए गणेश ने पूछा—"तुम ठहरे कहाँ हो ?"

"धर्मशाला में"—सीधा-सादा उत्तर था ।

पर सत्य, कल्पना से अधिक विचित्र होता है, गणेश को विश्वास नहीं हुआ । वह प्रमोद के जिस शानदार भूत से अवगत था, उसे सोचते हुए उसका विश्वास न करना असंभव नहीं था । फिर यह बात इतने सीधे-सादे रूप में स्वाभाविक ढंग से कही गयी थी कि कोई भी समझदार आदमी उसपर विश्वास नहीं कर सकता था । समझदारों के सम्मुख किसी सत्य को विश्वासोत्पादक बनाने के लिए उस पर असत्य का मुलम्मा चढ़ाना अनिवार्य हो जाता है ।

रणजीत धुएँ का चक्कर निकाल रहा था । मुँह से चक्कर निकलता और चक्र की तरह गोल-गोल घूमता तथा फैलता हुआ दूर जाकर टूट जाता । रणजीत उसे निकलते हुए-घूमते हुए और अंतमें टूटते हुए देखता, फिर एक जोर का कश लेकर नाक और मुँह से धुआँ निकालता ।

"क्यों ? होस्टल में कहीं जगह नहीं मिली क्या ?" गणेश ने चाय का घूँट गले के नीचे उतारते हुए पूछा।

"मिल तो सकती थी, पर बेबसी थी।" प्रमोद ने उत्तर दिया।

गणेश फिर कुछ क्षण चुप रहा। कमरे में एक शांति छा गयी थी।

"कैसी बेबसी ?"

प्रमोद एकदम चुप रहा। उसे सूझ नहीं रहा था कि वह इस समय क्या उत्तर दे। रणजीत ने महसूस किया प्रमोद ऐसे प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाह रहा है। उसने कलाई की घड़ी देखी और यद्यपि अभी घंटी बजने में पाँच मिनट समय बाकी था, फिर भी उसने कहा—"अब चला जाय, घंटी बजने को ही है।"

सबसे पहला आदमी जो झट खड़ा हुआ, वह था प्रमोद। वह कोठरी से बाहर हो गया और पीपल के नीचे पहुँच कर ही उसने अपने पैर रोके—रणजीत को साथ कर लेने के उद्देश्य से। जब रणजीत के साथ वह फिर चल पड़ा तो उसने देखा गणेश कैफे से बाहर निकल कर उसी की ओर ताक रहा है।

रणजीत ने मौन भंग किया—"इस गणेश से तुम्हारा, वास्तव में पुराना परिचय है ?"

"है तो ! क्यों ?"

"नहीं, कुछ यों ही।"

और फिर दोनों चुपचाप क्लास में घुसे।

× × × ×

प्रमोद की प्रसिद्धि दिनों-दिन बढ़ती चली जा रही थी। उसके गंभीर अध्ययन, स्वतंत्र चिंतन और तर्कपूर्ण उत्तर सुन कर, सिर्फ विद्यार्थी ही नहीं—प्रोफेसर भी दंग रह जाते थे। उसकी सादगी, मितभाषिता—दूसरों के लिए अनुकरणीय बन रही थी। वह जब कॉलेज के अन्दर पहुँचता तो छोटे-बड़े सभी क्लास के लड़के उसकी ओर प्रशंसा-युक्त

नजरों से देखते—आपस में फुसफुसा कर बातें करने लगते। लड़कियों के कॉमनरूम तक में वह चर्चा का विषय बनता—कई उससे मित्रता स्थापित करने का दम भरतीं।

पर प्रमोद, इन सब से परे एकदम निरपेक्ष जीवन व्यतीत कर रहा था। कॉलेज के सिर्फ दो ही विद्यार्थी उसके साथ प्रायः दिखाई पड़ते—रणजीत और गणेश; नहीं तो वह अकेला आता, अकेला बैठता और अकेला चला जाता। बायें हाथ में पतली-सी गोल मरोरी हुई कॉपी और उससे सटी हुई पेंसिल, ढीला-ढाला पैजामा और ढीला-ढीला कुरता—प्रमोद के इस रूप में इतनी स्थिरता आ गयी थी कि लोग उसकी छाया तक को पहचान लेते। बस, वह सर झुकाये हुए कॉलेज आता—पिछली बेंच पर बैठता और घंटी बजते ही पीछे के दरवाजे से चुपचाप सबसे पहले निकल जाता। क्लास में यदि कोई प्रश्न पूछा जाता तो एकदम नपा-तुला समुचित उत्तर—जैसे वह इस प्रश्न को पहले से ही जानता हो। जब कई घंटियों तक लगातार क्लास होते तो वह पिछले दरवाजे से निकल ओसारे पर खड़ा हो जाता और कुछ सोचता रहता। यदि रणजीत पहुँच जाता तो सिगरेट के दो कश लेता और प्रोफेसर को आते देख, पीछे जाकर बैठ रहता। देखने से पता लगता, वह हमेशा कुछ न कुछ सोचता रहता है—कोई दूर की चीज, कोई क्षितिज के पार की वस्तु पर जैसे उसका ध्यान हमेशा केन्द्रित रहता हो। जब कभी, रणजीत या गणेश के साथ चुपचाप कैफे में जाकर चाय पीता और जब तक घंटी नहीं बज जाती वह एक प्याली चाय ही पीता रहता—वह ठंढी ही क्यों न हो गयी हो भला।

उसकी दिनचर्या एकदम बँधी हुई थी। सात बजे स्नान कर लेता, मैनेजर साहब को खुश रखने के निमित्त मंदिर का घंटा बजा आता और तब पानी में भिगोया हुआ चना, गुड़ के साथ खाकर ठीक आठ बजे पुस्तकालय पहुँच जाता। ऐसे अनेक मौके आये हैं जब कि उसने ही

पुस्तकालय का ताला खोला है। दो-अढ़ाई घंटों तक अकेला बैठा पढ़ा करता और घंटी बजने के ५ मिनट पहले उठ कर चल देता। रणजीत से भेंट होती या नहीं तो गणेश से। बैठ कर चाय पीता और क्लास अटेण्ड करता। छुट्टी होते ही फिर पुस्तकालय। जब सूरज अस्ताचल के पास पहुँच दिन-भर के थके माँदे मछुए की तरह अपनी फैली हुई किरणों का जाल समेटता—वह पुस्तकालय से नयी-पुरानी मोटी-पतली कई किताबें लेकर निकलता और कुछ सोचते हुए—गुनगुनाते हुए धर्मशाला पहुँच जाता। मल-मल कर स्नान करता और चौके में जाकर बैठ रहता। चंद गरम-गरम रोटियाँ खा लेता और अपनी चटाई पर लेट खिड़की की राह तारों की आँख-मिचौनी देखता-देखता सो जाता। जिस समय नींद टूटती, उसी समय से फिर पढ़ना या लिखना शुरू करता और जब ऊषा उदयाचल की गुफा से निकल सोये हुए विश्व की ओर ताक कस कर अँगड़ाई लेती—उसका लाल अंचल हवा में फरफरा उठता—तब प्रमोद कॉपी-पुस्तक बंद कर देता, बिजली बुता देता और गंगा की ओर टहलने निकल जाता। उसका सिद्धांत था—जितना आराम करो, उससे दुगुना काम करो और जितना पढ़ो, उससे दुगुना मनन करो।

प्रमोद, हमेशा अकेला रहना चाहता और विशेष कर टहलने के समय। यही समय उसके मनन और चिन्तन का था। वह चलता रहता और किसी न किसी विषय पर सोचता जाता। इस समय वह किसी का भी साथ नहीं पसंद करता क्योंकि वह मूक रहना चाहता था, जो दो आदमियों के साथ प्रायः मुश्किल हो जाता है।

उसका यह अध्ययन और मनन का क्रम जितनी ही तेजी से बढ़ता चला जा रहा था, उतनी ही तेजी से उसके रुपये कम होते जा रहे थे। यह एक-एक रुपया उसके एक-एक घण्टे के कठोर परिश्रम का मूल्य था। आई० ए० की परीक्षा देने के पश्चात् प्रमोद ने एक मिलिटरी आर्डिनेन्स डीपो में नौकरी कर ली थी जो युद्ध के मोर्चों पर भेजे जाने के लिए

सामान इकट्ठा किया करता था। यहाँ प्रमोद ने देखा था—युद्ध में कितनी बड़ी बर्बादी होती है। उतना सामान यदि देश के विकास में लगाया जाय तो नक्शा ही कुछ दूसरा नजर आये। प्रमोद ने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा था—जिस किसी भी सामान की यहाँ गिनती होती थी तो हजारों और लाखों में ही। ट्रक हैं तो लाख, मोटर है तो लाख, राइफलें हैं तो लाख, वर्दियाँ हैं तो लाख—और तो और मसाला रखने के छोटे-छोटे डब्बे भी हैं तो लाखों की संख्या में। प्रमोद आश्चर्य में देखता—बाहर कपड़ों के बिना लोग नंगे हैं—मध्यवर्गीय घरों की बहू-बेटियाँ उसके अभाव में बाहर नहीं निकल पातीं और यहाँ गट्ठर के गट्ठर इतने कमीज और पैण्ट पड़े हैं कि यदि एक के ऊपर दूसरा रखा जाय तो पचीसों हिमालय तैयार हो जाय, यदि सड़क पर उन्हें एक के बाद एक रख दिया जाय तो मीलों तक जमीन नहीं दिखायी पड़े। और यह सब हो रहा था, प्रजा को नंगा और फटेहाल रखा जा रहा था—प्रजातंत्र की रक्षा के लिए।

प्रमोद वहाँ घंटों इस विषय पर सोचता। जब परीक्षा की तैयारी वह कर रहा था तो लिखने के लिए बाजार में कागज नहीं मिलता था। लिफाफों के लिए एकाँनामी स्लिप निकाला गया था। और यहाँ? कागज के गट्ठर के गट्ठर सड़ रहे हैं। लोग खाते तो एक-से एक अच्छे कागज पर रोटियाँ रखते और फिर खाकर उसे मरोर नाली में फेंक देते। जितनी चीजें यहाँ—इस एक डीपो में प्रतिदिन बर्बाद होती थीं—उतने में एक कस्बे को स्वर्ग का रूप दिया जा सकता था। पर दलील थी, उस स्वर्ग के लिए विनाश की यह होली अनिवार्य है—अपरिहार्य है।

प्रमोद वहाँ उस विभाग में किरानी का काम करता था जिसका सम्बन्ध सीधे युद्ध-मोर्चा से था। प्रत्येक जगह के लिए कुछ प्रतीकों का निर्धारण किया गया था जो कि सिर्फ बड़े फौजी अफसर ही जानते थे।

प्रमोद ने वहाँ तीन महीनों तक काम किया और न जाने कितने सामान युद्ध-मोर्चे पर भेजे, पर वह कभी भी नहीं जान पाया कि वे मोर्चे कहाँ हैं—कौन से हैं। उसे आदेश होता K R के लिए पचीस हजार ट्रक भेजे जायँ। पुर्जे निकाले जाते—काठ के बक्सों में बंद किये जाते और K R के निशान के साथ भेज दिये जाते। एक बार उसने अपने अमेरिकी फौजी अफसर से पूछा भी था कि K R या ऐसे ही अन्य प्रतीकों का क्या अर्थ है, तो वह मुँह बिचका कर रह गया था और अविश्वास की नजर से देखता हुआ चुरुट चबाने लग गया था।

यहीं वह महीने में २६ दिनों तक, प्रतिदिन ६ घण्टों के हिसाब से काम करता और कुल १५६ रुपया पाता। तीन महीनों तक जमा करने के पश्चात् उसने बी० ए० में नाम लिखाया था और बाकी रुपया लेकर पटना चला आया था।

आज उस कठिन कमाई का बस एक रुपयावाला एक नोट उसके पास बच रहा। एक रुपया! प्रमोद ने उस नोट को अपनी मुट्ठी में कस लिया और अपने सामने के गहन अंधकार में आँखें फाड़-फाड़ कर प्रकाश का एक कण पाने के लिए ताकता रहा।

एक रुपया! प्रमोद कल्पना करता कि वह पटना से लौटा जा रहा था—एक ऐसे आदमी की तरह जिसके सभी अरमान जल कर खाक हो चुके थे—जिसकी सारी आशाएँ पतझड़ के सूखे पत्तों की तरह बिखर गयी थीं।

एक रुपया! उस पक्षी की तरह प्रमोद छटपटा रहा था, जिसके पास उड़ जाने की पूरी शक्ति थी पर जिसके पंख निष्ठुर बहेलिये द्वारा बेरहमी से नोंच डाले गये थे।

प्रमोद आज कॉलेज से लौटा तो चौकी पर लेट रहा। उसके सामने भादो की मेघ-संकुल दोपहरी रात का घना अंधकार छाया हुआ था और वह उस पथिक की तरह डोल रहा था जो राह भूल कर दिशा-भ्रम

में पड़ गया हो। उसके सोचने में कोई क्रम नहीं पर वह विशृंखलित क्रम अनन्त था। वह सोचता जा रहा था—अप्रतिहत सोचता जा रहा था, पर यदि उससे कोई पूछे कि तुम क्या सोच रहे हो तो वह कह नहीं सकेगा कि क्या सोच रहा था। वह सोचता, घर जाकर खेती करेगा—जो थोड़ी-बहुत जमीन है, उसमें खूब परिश्रम करेगा। फिर सोचता परिश्रम करने से क्या होगा?—तदबीर पर तकदीर की विजय निश्चित है। वह दुनिया का सबसे बड़ा अभागा व्यक्ति है। नहीं, आज रात वह गाड़ी से जाकर कट जायगा। सब इतिश्री! वह कट सकेगा? हाँ, उसमें क्या है? चुपचाप किनारे खड़ा रहेगा, जब गाड़ी पास आ जायगी—कटे हुए वृक्ष की तरह पटरियों पर गिर जायगा। पर, उसके पहले एक बार पिताजी के दर्शन कर ले, नहीं तो वे सर धुन-धुन कर मर जायँगे। कितना सदमा होगा उनको। और कौन है उसका, जिसको सदमा पहुँचेगा। अधिक से अधिक एक रोज कॉलेज बन्द रहेगा उसकी मृत्यु के उपलक्ष्य में। रणजीत को भी कुछ दुख होगा। नहीं, वह इन लोगों की ममता की डोर से नहीं बँधेगा—नहीं बँधेगा।

प्रमोद ने बिछावन के नीचे से रुपया का नोट निकाल लिया। उसे देखा जैसे कि उसने पहले कभी उसे देखा नहीं हो। आज वह रुपया उसे बड़ा भला मालूम पड़ रहा था—एक मात्र प्रकाश था वह इस घने अंधकार में। वह उस पर छपा एक-एक शब्द पढ़ गया। छठे जार्ज के मुण्डे को देखा। इसका भाग्य कभी नहीं बिगड़ता—नियति इसकी पुश्तैनी चेरी बनी थी। उसकी इच्छा होती थी कि वह ठहाका मार कर हँस पड़े, पर वह हँस नहीं सका। फिर इच्छा हुई कि वह आज मन भर रो ले, पर यह अदना-सा काम भी वह नहीं कर सका।

प्रमोद, खिड़की पर आ कर खड़ा हो गया था। आसमान जैसे तारों के बोझ से झुकता जा रहा था और उसे लगता था कि वह धरती के बहुत नजदीक सरक आया था। बड़े-बड़े विकराल बादल छाये हुए

थे और उनके बीच कहीं-कहीं तारे चमक रहे थे। वह महसूस करता था जैसे कोई भयानक काला जानवर निगल लेने को मुँह फैलाये हुए हो और उसके तीक्ष्ण दाँत निकले हुए हों। क्षितिज के पास बिजली कौंधी और हवा का एक जोर का झोंका आया। बादल गरज उठे और प्रमोद को ऐसा लगा—जैसे आसमान धरती को अपनी मुट्ठियों में बाँध पीस देना चाह रहा हो।

प्रमोद खिड़की पर खड़ा-खड़ा हवा खा रहा था। वह अनुभव करता था—वह बेकार की बातें सोच रहा है। जो होना होगा—हो जायगा। मेरा काम, काम करते जाना है। गीता का श्लोक, उसकी आँखों के सामने नाच उठा—"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।" पर इस श्लोक के मनहीमन पढ़ लेने के बाद, उसकी हँसने की इच्छा हुई—उसने चाहा कि वह इतने जोर से ठहाका मार कर हँस पड़े कि रेलमरेली करते हुए ये काले-काले बादल स्तब्ध हो ठक् खड़े हो जायँ—विपरीत दिशा से उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठे, दशों दिशाओं से सिर्फ़ अट्टहासहीअट्टहास! और आपस में वे एक दूसरे से टकराते हुए ऊर्ध्व होकर आकाश की ओर उन्मुख हों और बादलों को फाड़ दें। हुँ! कर्म करो—और यह कर्म क्या है? जो पिस रहा है, वह पिसता जाय; जो पीस रहा है, वह पीसता जाय। कृष्ण का कर्म है—सर्वनाश के लिए पांचजन्य फूँकना; अर्जुन का कर्म है अभिमन्यु का बदला लेने के लिए लाशों का पहाड़ खड़ा कर देना; भीम का कर्म खून पीना और दुःशासन का कर्म है द्रौपदी को भरी सभा में नंगी बना देना। सभी अपना-अपना कर्म कर रहे हैं, मैं भी अपना कर्म कर रहा हूँ। रोता हूँ। रोता हूँ, खीझता हूँ—यही तो। बैठा तो हूँ नहीं, चल ही रहा हूँ। मेरे लिए तो पतन के गर्त में गिर जाना भी अग्रसर होने के ही सदृश है। पीछे हट कर तो गर्त में नहीं गिरता, आगे बढ़ते-बढ़ते गिर जाता हूँ। फल की इच्छा मत करो, कर्म करते जाओ—फल भगवान् देगा। छिः! भगवान्!! भगवान पर विश्वास?

•

प्रमोद एकांत में भी हँस पड़ा—भगवान् पर विश्वास ? भगवान् पर विश्वास अर्जुन कर सकता है, कर्ण नहीं—द्रोण नहीं—भीष्म नहीं। वह स्वार्थी है, जो उसे भगवान् कहकर पुकारता है—जो उसे सब कुछ समझ कर आप आलसी बन जाता है, पूजा करता है—उसी का वह पक्षपात करता है। वह एक कौन्तेय का पक्ष लेकर दूसरे कौन्तेय का वध कर सकता है, सिर्फ इसलिए कि दूसरा कौन्तेय उसे नहीं मानता। निर्बलों का देवता भगवान् है—बलशाली की देवी नियति। बलशाली भगवान् को नहीं मानता, वह नियति को अपने अनुकूल बनाना चाहता है। भगवान्, पक्षपाती है—उसके कुछ 'अपने' हैं। नियति, मनमौजी है—तरंगी है। उसका कोई 'अपना' नहीं। भगवान् जिसका पक्ष लेता है, उसके लिए वह प्रिय-अप्रिय सब काम कर सकता है; पर नियति जिसको अभी चाहती है, उसकी जान भी कुछ क्षणों बाद गले पर लात रख कर खींच ले सकती है। नियति के लिए अपना-पराया कोई भी नहीं—यह उसकी तरंग पर निर्भर है।

प्रमोद हाँफने लग गया था—थक गया था। उसने सोचा—"और........और मैं नियति का उपासक हूँ; क्यों कि उसकी शक्ति में, उसकी उपासना में एक रिस्क (Risk) है जो आकर्षित करती है—एक जोखिम है जो खींचता है।"

× × ×

प्रमोद की स्थिति मँझधार में पड़े उस नाविक की सी हो गयी जो एकांत समुद्र में एकदम अकेला पड़ गया हो, जिसे कोई कूल-किनारा नहीं सूझ रहा हो और जो अपने को अपने भाग्य पर छोड़ कर थिर पड़ गया हो। उसकी इच्छा हुई थी कि वह एक बार मैनेजर साहब से कहे, गणेश और रणजीत से कहे, अपने उन शिक्षकों से कहे जो उससे सहानुभूति रखने लगे थे। पर न जाने क्यों जब उसके दिल और दिमाग साथ देते हैं तब होठ ही नहीं खुलते, जैसे उन्हें सी दिया गया

हो। प्रमोद एक बार मैनेजर साहब के पास जाकर लौट आया था पर कुछ कह नहीं सका। जब रणजीत के साथ वह चाय पी रहा था तब उसका हृदय मुँह तक आ-आ कर खुल जाना चाह रहा था पर होठों के कपाट ढक-ढक कर ही रह गये थे। और जब वह दो-दो बार इस तरह असफल रहा था तव उसने किसी से न कहने का एक निश्चय-सा ही कर लिया था।

प्रमोद रात भर न जाने क्या-क्या सोचता रहा था। भोर में उसे नीन्द आयी थी, इसलिए वह देर तक सोया रहा। उसे अपने पर गुस्सा आ रहा था और रह-रह कर वह यह सोचने लगता था कि आज इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो उससे सहानुभूति रखता हो, उसके अंतर के घुलते हुए तूफान को जान लेने के लिए उसके अंदर प्रविष्ट होना चाह रहा हो। वह अपने को निःसहाय और निरुपाय देख रहा था और यह अदम्य इच्छा जागरित हो-हो कर दब जाया करती थी कि या तो वह अपने हाथों अपना गला घोंट ले नहीं तो ऐसी दुनिया को ही विनष्ट कर दे जो सिर्फ लेना ही जानती है, देना नहीं जानती—जो यह चाहती है कि उसके प्रति सभी सहानुभूति प्रदर्शित करें, पर वह किसी दुखी की ओर ताके तक नहीं—जहाँ अधरों पर के हास लूट लिये जाते हों, पर आँखों के आँसू बाँटे नहीं जाते।

उसे गुस्सा आ रहा था मैनेजर और नौकर पर जिन्होंने उसे जगाने तक का कष्ट नहीं उठाया। कौन होता है वह उनका? उसका क्या सम्बन्ध है उनसे? आश्रय देकर, बीमारी में परिचर्या कर उन्होंने मनुष्योचित कार्य किये हैं, पर यदि कोई टाँगे तोड़ कर उनके यहाँ पड़ा रहे, उनके सर का बोझ बन जाय तो उनकी यह बेरुखी भी कम मनुष्योचित नहीं है। वे मेरे कौन होते हैं? उनसे क्या सम्बन्ध है मेरा?............पर अभी प्रमोद को उनकी बेरुखी अखर रही थी।

उसे फिर गुस्सा आता रणजीत पर। स्वार्थी है वह। सारी

दुनिया ही स्वार्थी है और यह स्वार्थ इस दुनिया का इतना बड़ा मौलिक गुण बन गया है निःस्वार्थ की यहाँ खैर नहीं। इस दुनिया में जिसे रहना है, उसे स्वार्थी बन जाना होगा ही। इतना घुलमिल कर बातें करता है, पर सब ढोंग है। वह क्यों नहीं प्रमोद के व्यक्तिगत दुख को जान लेने का प्रयत्न करता है, क्यों नहीं उसके निराकरण की चेष्टा करता है?

और यह गणेश? लम्पट। भूल गया कि मैंने कभी उसकी वह मदद की थी जो कि उसे कहीं नहीं मिलती। पर आज? वह मेरे रहने के बारे में तो जानना चाहता है, पर यह नहीं पता लगाना चाहता कि मैं कैसी स्थिति में पड़ा हूँ।

प्रमोद को आज सारी दुनिया पर इसलिए गुस्सा आ रहा था कि वह क्यों नहीं उसके होठों को चीर कर उससे यह कहला लेती है कि वह निःसहाय है और उसे सहायता चाहिये।

प्रमोद को आज उस स्वार्थी भगवान् पर इसलिए गुस्सा आ रहा था कि उसने उसे क्यों महसूस करनेवाला एक भावुक हृदय दिया और क्यों नहीं उसके होठों को खुल जाने का साहस दिया जिससे वह चिल्लाकर कह सके कि वह मँझधार में डूब रहा है—उसे एक सहारा चाहिये।

भाग्य? प्रमोद सोचता है—वह जन्म से ही अभागा है। भाग्य ने उसका कभी साथ नहीं दिया। उसके हाथों में अब भी वह अपने जीवन की डोर छोड़ देने को तैयार है, पर उसे उस पर विश्वास नहीं जमता।

प्रमोद आज न तो पुस्तकालय गया और न कॉलेज ही। अपनी कोठरी में ही बैठा-बैठा अपने से जूझता रहा—अपने विश्वासों से लड़ता रहा, अपने विचारों को उमेठता रहा—खींचता रहा। एकांत में सभी पीड़ित लड़ाकू बन जाते हैं।

उसे भूख लगी थी। किसी ने उससे पूछा तक नहीं कि वह कुछ

खायगा भी या नहीं। और यदि खायगा तो उसके लिए पास में पैसे हैं या नहीं। भूख? मनुष्य को जानवर बना देनेवाली दोजख की यह आग। प्रमोद की इच्छा हुई कि वह अभी-अभी गवर्नर और वायसराय के यहाँ पहुँचे और कहे कि—"देखो, मैं हूँ भारत का एक प्रगतिशील नागरिक, मेधावी छात्र, उसकी आशा—आकांक्षा। और यह देखो, मैं भूख से तड़प रहा हूँ, पैसे नहीं रहने के कारण पढ़ नहीं पा रहा हूँ। उधर तुम, हमारी रक्षा के नाम पर करोड़ों रुपया युद्ध की आग में झोंकते जा रहे हो।" प्रमोद के सामने एक ऐसी रेल इंजिन का चित्र घूम गया, जिसके धधकते चूल्हे में एक कुली कोयला के बदले रुपये झोंकते जा रहा था। काश! एक बार वह इधर फेंक देता!

प्रमोद के सर में हल्का-हल्का दर्द होने लगा। वह उँगलियों से अपना कपाल रगड़ता—रगड़ता रहा। यह विशाल धर्मशाला—बिड़ला की बनायी हुई है। उसके यहाँ रुपये बरसते हैं। हिन्दुस्तान के सभी शहरों में उसने ऐसी धर्मशालाएँ बनायी हैं—साथ-साथ एक मंदिर भी। काश, वह मुट्ठी भर नोट मुझे दे पाता। नहीं, वह टूटे-फूटे मंदिरों के जीर्णोद्धार के लिए मात्र एक चिट्ठी लिख देने पर ही हजारों भेज सकता है, पर हमें एक पैसा नहीं दे सकता। प्रमोद को किसी वामपक्षी पत्र में छपे उस कार्टून की याद आयी जिसमें भारी तोंद, बड़े-बड़े दाँत और मोटी नाक वाले एक पूंजीपति के पेट में किसी ठिंगनें कद के छोकरे ने हँसिया घुसेड़ दी थी और उससे भरभरा कर रुपये गिरने लगे थे। प्रमोद ने अपने बड़े-बड़े नखों को देखा और दाँत भींचते हुए ऐसी मुद्रा बना ली जैसे वह किसी की तोंदही चीर रहा हो। पर........पर वह कार्टून था, जिसकी विकृति ही सत्य है और यह प्रमोद है जिसका सत्य ही विकृत है।

प्रमोद ने पुनः एक रुपयावाला अपना शेष नोट निकाल कर देखा। उसे उलटा-पलटा फिर मोड़ कर अपनी मुट्ठी में इस तरह कस कर बन्द

कर लिया जैसे कोई वृद्ध पिता अपने एकलौते शिशु को मरने के पहले छाती से चिपका लेता है। सोलह आने—चौंसठ पैसे। प्रमोद सोचता है,—नहीं, अभी उसके पास बहुत है, वह जिंदा रह सकता है। डूबते हुए के लिए एक तिनका का भी सहारा बहुत बड़ा मालूम होता है।

उसे भूख बेतरह सताने लगी थी, कपड़ा पहन कर वह बाहर निकल पड़ा। उसकी गति में वह तेजी आ गयी जो कि किसी दीप की लौ में बुझने के पहले आ जाती है। धर्मशाला के उस सामनेवाली गंदी दुकान पर जाकर वह बैठ रहा जहाँ तेल की बनी हुई चीजों से लेकर काँफी के रंग की चाय और बीड़ियाँ तक मिलती थीं। उसने तला हुआ चना लिया, चाय पी, बीड़ी सोंटी और इस प्रकार पूर्ण तृप्त होने के बाद भी बारह आने पैसे मुट्ठी में दबा वह एक ओर चल पड़ा।

× × × ×

जाड़े की रात में खाट के नीचे अंगीठी रख, पैर सिकोड़ कर लेटी रहनेवाली खाँसती हुई रुग्णा बुढ़िया की तरह, गर्म बालुओं की सेज पर क्षीणकाय गंगा लेटी हुई थी। पछुआ हवा के तेज झोंके चल रहे थे और रह-रह कर वह सिहर उठती थी। बालुओं की श्वेत, पर मैली चादर फरफरा उठती और छोटे-छोटे रेगिस्तानी तूफान का-सा दृश्य उपस्थित हो उठता। किनारे पर के सूखे पतले वृक्ष एक ओर को झुक जाते और फिर झूमने लगते जैसे किसी प्रवीण सँपेरे की बीन की आवाज पर मुग्ध हो सहस्रों नाग फण डुला-डुला कर झूम रहे हों। किरणें, वातावरण का सारा रस चूस कर उन सुनहली सर्पिणियों की तरह शिथिल हो रेंगने लग गयी थीं जिन्होंने कहीं भरपेट दूध पी लिया हो। छोटी-छोटी लहरों के नर्तन में भी अब कोई क्रम नहीं दीख पड़ रहा और ऐसा लग रहा था जैसे मदिरा से मत्त नर्त्तकियाँ अटपटे रूप से नृत्य का नाट्य कर रही हों। उस पार वृक्षों की पंक्तियों के बीच का श्वेत शून्य लाल-सिंदूरी रंग से भरता जा रहा था और उनकी ओट में, जहाँ दिन भर का जलता हुआ आकाश

क्षितिज तक झुक कर तपी हुई धरती के गर्म होठों को चूम रहा था, वहीं, थका-माँदा सूरज, डूबने जा रहा था—डूबता जा रहा था—डूब गया था।

पास ही बालू पर कई जली हुई चिताओं की राख और अधजली छोटी-छोटी लकड़ियाँ पड़ी थीं और प्रमोद विचारशून्य, ज्ञानशून्य अपने सामने फैलते हुए अंधकार को देख रहा था। मसान पर की बिजली बत्तियाँ अचानक भक्-सी जल पड़ीं और उनका प्रकाश पानी पर इतराने लगा। प्रमोद किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बैठा था और उसकी इच्छा हो रही थी कि वह इसी प्रकार यहाँ बैठा रहे। और दिन उसे डर लगता पर आज उसे कोई डर नहीं था, क्योंकि मृत्यु उससे दूर भागती जा रही थी, छिपती जा रही थी और आज वह उसे खोजता हुआ ही यहाँ पहुँच गया था। वह सोच रहा था—जरा अंधकार और गहरा हो जाय, इतना गहरा कि हाथ को हाथ तो क्या, भावनाओं को बुद्धि न सूझे—तर्कों का पता तक न लगे और तब............। प्रमोद सिहरा नहीं, डूबते हुए आदमी का एक कुलबुलाता चंचल चित्र उसके सामने घूम गया। वह चुपचाप डूब जायगा—निःशब्द; ठीक उसी तरह जिस तरह कि सूरज डूब गया था—मौन और नीरव.......नीरव !

पानी पर बिजली का प्रकाश इतरा रहा था, इठला-इठला कर झल-मला रहा था। उसने उलट कर बल्ब की ओर ताका और ताकता रह गया। उसे लगा जैसे वह बल्ब कह रहा हो—"मैं अपने प्रकाश में इन मुर्दों के हृदय के अंधकार की परीक्षा किया करता हूँ।..........

"रातभर और कभी-कभी दिन में भी, जब म्युनिसिपैलिटी वाले सूरज की किरणों की चकाचौंध में हमारा बटन दबाना भूल जाते हैं—तब; रात और दिन, आठों याम—चौबीसों घंटे मैं जलता हुआ देखता रहता हूँ—इस मरघट के जल के नीचे—दिल के टुकड़ों को गलते हुए, सड़ते हुए।..................

•

"हाँ, सूरज के प्रकाश और मेरे प्रकाश में अंतर है—बहुत बड़ा अंतर। सूरज के प्रकाश में लोग मुर्दों के खुले हुए मुँह को देख, मुख फेर चल देते हैं। मेरे प्रकाश में लोग मुर्दों के हृदय के अंधकार, घुलती हुई वेदना, कराहती हुई आह और करवटें लेती हुई टीस देख चिहुँक उठते हैं।............उनकी आँखें निकल आती हैं, पलकें झँपने का नाम ही नहीं लेतीं। उनकी भावनाएँ मथने लगती हैं—बुद्धि चीत्कार कर उठती है।

"और तब, मैं, चुपचाप—एकनिष्ठ हो, एकाग्र हो, तल्लीन हो—गलते और सड़ते हुए दिल के टुकड़ों को दो हिस्सों मे छाँटता जाता हूँ—शीशे से भी नाजुक, पत्थर से भी कठोर।"

अचानक धार पर किसी वृहद्काय पक्षी के पंख फटफटाने का शब्द हुआ और प्रमोद ने उलट कर उस ओर ताका। उसे मालूम पड़ रहा था, कुछ धुँधला-धुँधला-सा, कोई अधजला शव बहता जा रहा था और उसपर एक गीधराज बैठे तैर रहे थे—बहते जा रहे थे।

प्रमोद अंधकार चीरता हुआ, आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा था और जबतक शव और गीध एकदम अंधकार से एकाकार नहीं हो गये—वह देखता ही रहा। उसने मुट्ठी भर बालू यों ही पानी में फेंक दिया और फिर मुट्ठी को कसते हुए ही उसने निश्चय किया—नहीं, वह आत्महत्या नहीं करेगा—नहीं करेगा। उसे 'प्रसाद' की वह पंक्ति याद आयी—"नियति की डोरी पकड़ कर निर्भय कर्म-कूप में कूद जाओ।" वह कूद जायगा कर्म-कूप में—बिना कोई आगा-पीछे सोचते हुए, पर वह आत्महत्या नहीं करेगा—यह कायरता है। उसके सामने वही—शव पर बैठे हुए गीधराज का धुँधला चित्र और स्पष्ट होता गया—साफ होता गया और उसे लगा जैसे इस गहन अंधकार में ही उसका यह प्रकाश छिपा था—"परिश्रम को उपास्य बनाओ, भाग्य स्वयं तुम्हारी उपासना करेगा।" बालू को पानी में अपनी मुट्ठी से छोड़ते हुए प्रमोद ने

कई बार दुहराया—"परिश्रम को उपास्य बनाओ, भाग्य स्वयं तुम्हारी उपासना करेगा।" उसने अपनी बायीं तलहथी पर जोर से मुक्का मारा और फिर उँगलियों को समेट जोर से चाँप दिया। इसी तरह वह कुछ क्षणों तक किनारे खड़ा रहा—सामने आकाश में सबसे दूर, पर सबसे अधिक चमकते हुए एकाकी सांध्य तारा को एकटक निहारता रहा। शव पर बैठे गीध के पंखों की फरफराहट, वह अभी तक सुन रहा था। फरफराहट तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी और उसे लग रहा था जैसे वह शव उसके पास ही कहीं किनारे लग गया हो। उसके चेहरे पर एक तनाव आ गया था, उसकी आँखों में उस दृढ़निश्चयी की चमक आ गयी थी जो सामने मुँह बाये किसी बिकराल हिंसक पशु के दाँत तोड़ देने को आतुर हो उठा हो। उसने अपने दोनों हाथों को जेबों में डाला और उन्हें तान दिया—उसके दाहिने हाथ की उँगलियों में कसे शेष बारह आने के सिक्के पसीज उठे थे।

प्रमोद जब किनारे की ओर लौटते समय मसान घाट की सीढ़ियाँ पार कर रहा था तब उसने महसूस किया कि उसके हृदय और मस्तिष्क के आंतरिक संघर्ष का एकमात्र साक्षी वह एकाकी तारा जैसे उसकी पीठ पर नजर गड़ा कर अपलक ताकता जा रहा है और उसकी रीढ़ की हड्डी में एक ऐसा गोल सूराक बनाता जा रहा है जैसी किसी काठ में पेंचवाली कांटी घूम-घूम कर घुसती हुई बनाती जाती है। प्रमोद ने एक झटके के साथ उलट कर उस तारे की ओर देखा और क्षण-भर देखता रह गया। उसे लगा कि वह आकाश के देवता के मुकुट का नग है और तब उसने देखा—उसके नीचे उसी अनुपात से झटपट कोई देवतुल्य सौम्य मुखड़ा निकला और उसने हाथ उठा कर उसे आशीर्वाद दिये। प्रमोद की पलकें झुक गयीं और उसने उस देवता को नमस्कार करते हुए अपने हाथ जोड़ दिये। तत्क्षण ही उसने पाया—लहरों पर डोलती हुई तारे की छाया के पास एक भयानक मुखड़ा पानी से ऊपर आया और वह

दसों दिशाओं को झकझोर देनेवाला अट्टहास करने लगा। प्रमोद की सारी देह कंटकित हो उठी और वह भय से पलट कर पुनः सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। एक सीढ़ी ही चढ़ पाया था कि जैसे कोई नुकीली कांटी उसकी पीठ में घुसी और वह गिरते-गिरते बचा। फिर उठा और तेजी से पैर बढ़ाता हुआ सड़क पर आ गया। वह पसीने से तर था।

× × ×

पर ईमानदारी के साथ जिन्दा रहना उतना आसान नहीं है, और बायीं तलहथी पर दाहिने हाथ से मुक्का मारने से शायद तरंगी नियति कुढ़ ही जाया करती है। प्रमोद ने यद्यपि यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि न तो वह आत्महत्या करेगा और न लौट कर घर ही जायगा, फिर भी दिनों-दिन वह उसी स्थितिकी ओर बढ़ता जा रहा था, जहाँ सिर्फ दो ही मार्ग थे—या तो वह रेल पर बिना टिकट चढ़कर घर लौट जाय, नहीं तो फिर उसी मसान पर पहुँचे जहाँ पत्थर से भी कठोर और शीशे से भी नाजुक हृदय, युगों से सड़ते-गलते पानी में दह जाते हैं या मिट्टी में मिल जाया करते हैं। इस बीच रणजीत और गणेश से भी वह मिला था, मैनेजर साहब से भी उसकी बातें हुई थीं, पर वह फिर भी उनसे कुछ कह नहीं सका था। रणजीत के सामने वह एक बार खुलने को हुआ कि होंठ फड़फड़ाने के बदले उसकी आँखों में न जाने कहाँ से भादों के बादल घुमड़ पड़े। वे बरस जाते तो शायद रणजीत कुछ जान भी जाता, पर पलकों के बाँध टूट न सके और उसने धोती में मुँह छिपा कर आँसुओं को पी लिया। इस तरह वह कितने आँसू पी चुका है, कितना जहर निगल चुका है, और उसके कपाल पर की तीन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं तथा सूजी हुई सूनी आँखों में न जाने कितनी ट्रेजेडी सोयी पड़ी है।

धर्मशाले में उसकी स्थिति उस कुत्ते से भी बदतर हो गयी थी, जिसकी टाँगें किसी मोटर के नीचे आ जाने के कारण कुचली गयी हों और जो चुपचाप भूखा-प्यासा, फाटक पर उन्हीं घायल टाँगों को चाटता

हुआ पड़ा रहता है। उसने विज्ञापन देखकर तीन-चार जगहों पर लिफाफे भी फेंके थे, पर फेंकने के समय उसे जितनी आशा बँधी था, अब उतनी ही गहरी निराशा उसे दबोच बैठी थी। वह चाहता था कि उसे तत्काल कोई काम मिले, पर काम ?—काम उसके लिए पत्थर का वह देवता सिद्ध हो रहा था जिसका वरदान प्राप्त करने को शायद उपवास आवश्यक होता है।

प्रमोद के सारे पैसे चुक गये थे और आज उसके उपवास की तीसरी संध्या बीत रही थी। सितम्बर का प्रारम्भ था, वह खिड़की पर खड़ा-खड़ा सुदूर आकाश में लुकते-छिपते तारों को देख रहा था। वह एकाग्र होकर अपने हृदय की उन अभिलाषाओं को भी गिनता जा रहा था, जिनके उदय के समय उसकी आँखों में एक चमक आ गयी थी—अंधकार को चीरते हुए प्रकाश की एक रेखा खिंच गयी थी; पर परिस्थितियों ने जिनका असमय ही गला घोट दिया था और जिनकी लाशों की सड़ाँध से उसके हृश्य का कोना-कोना विषाक्त बन गया था। वह अभिलाषाओं की उन लाशों को उलटता-पलटता क्रमशः पीछे की ओर भागा जा रहा था—और यह अन्तिम लाश उसकी पहली अभिलाषा की थी—सुनन्दा। उसके हृदय में बैठी हुई सुनन्दा की सांस न जाने कब रुक गयी थी, और अब उसकी लाश सड़-गल कर इस तरह पच-पचा गयी थी कि प्रमोद के स्पर्श के साथ ही चमड़ी सहित माँस उसके हाथों में आ गया। प्रमोद ने उसके वे रेशमी बाल पकड़े तो वे इस तरह उखड़ गये जैसे पतले गोंद से उन्हें साट दिया गया हो। उसने उसकी नाक पकड़ी तो वह भी उखड़ गयी और इस तरह उङ्गलियों में सट गयी जैसे गीले आटे की बनी हो। उसने उसके गाल थपथपाये तो पहले ही स्पर्श में चमड़ी और माँस फट कर गिर गये और कनपटी की हड्डियाँ दिखने लगीं। प्रमोद ने दनादन अपने दोनों हाथों से सड़े-गले मांस को हटाना शुरू किया और तब देखा—एक नर-कंकाल उसके हृदय के कोने में पड़ा है,

जिसकी सुन्दर आँखों की जगह दो गड्ढे हैं, दांत भयानक रूप से निकल गये हैं और वह मुस्कुरा रहा है। मुस्कुराता-मुस्कुराता वह ठहाका देने लगा और अपनी लाठी की तरह टाँगों पर खड़ा होकर उछल-उछल नाचने लगा। प्रमोद मन के विस्फारित नेत्रों से देख रहा था और उसकी पलकें गिरने का नाम ही न लेती थीं। उसे नाचते देख, अभिलाषाओं की अन्य लाशें भी खड़ी हुईं और थिरकने लगीं—किसी की एक कनपटी सड़ी थी, किसी का पेट गल कर गिर गया था और किसी की नाक एक ओर सूज कर फूल गयी थी। लाशें नाचने लगीं—नाचती रहीं—ठहाके लगाती रहीं। प्रमोद को लगा कि उसका हृदय फट जायगा और कलेजा मुँह को आ जायगा। उसने अपने दोनों हाथों से अपनी आँखें मूँद लीं और खिड़की पर सर थाम कर खड़ा रहा। कंकालों के ठहाके उसके कानों से टकराते रहे—उसके कान के पर्दों पर उसी तरह प्रहार करते रहे जिस तरह कोई उत्साह में ढोल के चमड़े पर कस-कस कर डंडा मारा करता है।

वह चौकी पर लेट गया था और उसने कस कर आँखें बन्द कर लीं थीं। नहीं चाह रहा था कि वह हृदय के उन कोनो की ओर भूल कर भी झाँके जहाँ सुन्दरतम अभिलाषाओं के विकृत कंकाल पड़े हैं और जिनमें उसके स्पर्श मात्र से ही न जाने कहाँ से फिर जान आ जाती है और जो सिर्फ भूतों की तरह ठहाका मार कर नाचते रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते। वह अपने उन मधुरतम सपनों के बदबूदार शवों को नहीं गिन सकेगा जिन्हें परिस्थितियों के गीध नोंच-नोंच कर खा रहे हैं, जिनकी आँखों को विषमताओं के काले कौए अपनी चोंच से खींच-खींच कर निकाल रहे हैं और जिनके हृद्पिण्ड को दुर्भाग्य के गीदड़ चबा-चबा कर निगलते चले जा रहे हैं।

प्रमोद को लगा जैसे उसका ब्रह्मण्ड फट जायगा। न जाने कितनी अभिलाषाओं की विषैली दुर्गन्धि उसके अन्दर-ही-अन्दर इस तरह संग्रहीत

हो गयी थी कि कहीं अचानक विस्फोट न कर उठे। उसी कुलबुलाहट में उसने जोर से एक सांस छोड़ी और आँखें खोलीं; पर बहिरंग भी इतना कुरूप और विषैला बन उठा था कि न तो वह फिर सांस ले सका और न आँखें ही खुली रख सका। वह कुलबुला रहा था—कसमसा रहा था—छटपटा रहा था और समुद्र में डूबते हुए उस आदमी की स्थिति में पहुँच गया था जो सांस लेने को पैर पटक कर सतह तक पहुँचता तो है पर लहरें उसे घेर लेती हैं और वह बलबला कर हवा के बदले नमकीन जल से अपना पेट भर फिर तल में पहुँच जाता है।

नौकर खाकर आया, कोठरी में घुसते ही उसने एक भारी डकार लिया, दीवार पर की कांटी पर चाबियों का गुच्छा लटकाया और पेट हँसोसते हुए उसने प्रमोद पर एक उपेक्षा-भरी दृष्टि डाली। नीम के तिनके से दाँत खोदते हुए जैसे जान-बूझ कर उसने फिर एक डकार लिया और बाहर जाकर थूक आया। फिर आकर उसने अपना कम्बल बिछाया और बत्ती बुझा दी। प्रमोद ने टोका—"बत्ती मत बुझाओ", पर उसने लेटते हुए उपेक्षा से उत्तर दिया—"आजकल बिजली में बहुत पैसा लग जाता है—सो मैनेजर साहब बोले हैं कि ९ बजे के बाद बिजली बुझा दिया करो।" और उसने होठों को चाँप कर फिर एक डकार लिया। प्रमोद छटपटा उठा जैसे किसी बिच्छू ने डंक मार दिया हो। उसकी इच्छा हुई कि वह नौकर का गला घोंट दे और उसका खून पीकर अपनी क्षुधा शांत कर ले।

नौकर खर्राटे ले रहा था और प्रमोद के पेट में जैसे कोई भट्ठी धुँधुआ रही थी। उसका कंठ सूख रहा था और ऐसा लग रहा था कि जैसे पेट से किसी आग की लपट चक्कर काटती हुई कंठ तक पहुँचती हो और फिर उसी तरह चक्कर मारती हुई लौट जाती हो। नौकर के खर्राटे की आवाज हो रही थी और ठंढी हवा के झोंकों से खिड़की की किवाड़ियाँ रह-रह कर खुलती थीं और फिर फटाक् से बंद हो जाती थीं। प्रमोद

उठा, उसने खिड़की की चिटखिनी लगा दी और अंदाज लगाया कि नौकर कितनी गहरी नींद मे है। वह बाहर निकला—चारों ओर अंधकार था, सभी कोठरियो के कपाट बंद थे और कहीं से कोई प्रकाश नहीं आ रहा था। वह फिर कोठरी मे आया, गौर से नौकर को देखा—वह घोड़े बेच कर सो रहा था। उसने दीवार पर अपने हाथों को रेंगाना शुरू किया और इस तरह काटी पर से धीरे-धीरे चाभी उतारी, कोठरी के कपाट सटा दिये और दबे पॉव रसोई घर की ओर बढ़ा। सीढ़ी के पास नीचे उतरने को ही था कि पास की कोठरी से खॉसने की आवाज आयी और वह सर से पैर तक सिहर उठा। उसे लगा, जैसे वह धड़ाम् से गिर पड़ेगा। वह उल्टे पॉवो लौट पड़ा और अपनी कोठरी के सामने खड़ा हो सांस लेने लगा। उसके बदन से पसीना छूट रहा था।

पर पेट की आग—उसके हृदय, उसके मस्तिष्क—उसकी सारी देहको झुलसा रही थी। आज कई दिनो से उसे भरपेट खाना नसीब नहीं हुआ था और तीन शाम से तो वह सिर्फ पानी पीकर ही जिन्दा था। इस बार उसने दृढ़ कदम उठाये। उसके कान इतने सचेष्ट थे कि वह अपनी पग-चाप भी सुन रहा था। सीढ़ी के पास आकर वह ठिठका, कुछ क्षण खड़ा रहा और फिर धीरे से नीचे उतर गया।

धीरे-धीरे उसने ताला खोला—कई चाबियो के पैसाने के बाद तो वह खोल पाया था; कपाट बन्द किये, खुली हुई खिड़की की चिटखिनी धीरे से लगा दी और तब दीवार हसोसते हुए बिजली जलायी। दीवार में लगी आल्मारी खोली, कोना-कोना छान डाला—कहीं कुछ नहीं। एक ओर मटके में चावल और दाल थे, दूसरी ओर टोकरी में आटा पड़ा था। नीचे के खटाल में परवल और आलू पड़े थे, प्याज और कच्ची-हरी मिर्च भी पड़ी थीं। सब था—भोजन नहीं था। काश! वह उन्हें कच्चा निगल पाता!

प्रमोद हतोत्साह और निराश हो गया और उसको इच्छा हुई कि

वह कोठरी को इसी प्रकार छोड़ चौकी पर जाकर लेट रहे और खूब रोये। आवेश और घबराहट में उसने उन सभी बरतनों को उलटना-पलटना शुरू कर दिया जो कि धो-पोंछ कर रखे गये थे और जिन्हें दूर से देखने पर भी कोई कह सकता था कि वे खाली पड़े हैं। पर प्रमोद एक रोटी की आशा में, भूख से व्याकुल होकर यह सब कुछ नहीं सोच पा रहा था। कि अचानक चूल्हे के पास ही उलटे पड़े हुए तवे को उसने जैसे ही उठाया, उसकी आँखें हर्ष और उल्लास से चमक उठीं। पीतल के कटोरे में गोल-गोल रोटियाँ चँपी पड़ी थीं और उनके ऊपर एक छोटी कटोरी में परवल और आलू की रसदार तरकारी पड़ी थी। प्रमोद उसी जगह खड़ा-खड़ा ही इस तरह खाने लगा जैसे वह जन्म का भूखा हो।

छोटी कटोरी को उलटा कर उसने फर्श पर ही छोड़ दिया और बत्ती बुझा कर रसोई घर की खिड़की खोल दी, जिससे आशंका सहज ही किसी बिल्ली पर की जा सके। फिर उसने धीरे-धीरे कपाट बन्द किये, साँकल चढ़ायी और ताला बन्द कर दिया। कोठरी में पहुँच कर यथावत् चाबी रखी और बत्ती जला कर भर पेट पानी पिया। उसकी नसों मे गर्मी आ रही थी और उसके पेट का चूल्हा ठंढा पड़ता जा रहा था जैसे उसके नीचे से जलती हुई लकड़ियाँ खींच ली गयी हों।

× × + ×

प्रमोद सुबह उठा, नहा-धो कर बाहर चला गया। उसे पश्चाताप हो रहा था अपने आप पर। यह क्या किया उसने, उसे ऐसा नहीं करना चाहिये था। जिन्दगी में पहली बार उसने चोरी की थी और वह भी चंद रोटियों की। पर न जाने कौन उसके अन्तर में से कह उठा—"रोटियों की चोरी पाप नहीं है। रोटियों के लिए हत्या तक क्षम्य है।" इससे उसे कुछ परितोष तो मिलता पर दूसरे कोने से दूसरी आवाज उठती—"नहीं, चोरी किसी भी चीज की क्यों न हो, पर वह पाप है; और विशेष कर तब, जब कि तुम बिना चोर बने ही उसे पा सकते थे।" प्रमोद

ने सोचा—हाँ, यदि वह माँग लेता, मैनेजर से जाकर कहता कि उसे भूख लगी है, उसके पास पैसे नहीं हैं; तो उसे क्या वे चन्द रोटियाँ नहीं मिलतीं। मैनेजर से क्या, वह नौकर से ही माँग लेता तो मिल जातीं। पर यही तो वह नहीं कर सकता था। माँगना? माँगने पर ही यदि वह रहता तो उसे बहुत कुछ मिल सकता था। पर माँगना उससे होता नहीं—उसके होठ खुलते नहीं।

प्रमोद ने आगे सोचा—यदि वह इस तरह बी० ए० पास कर भी लेगा तो क्या करेगा? सुनन्दा के पिता ने कहा था कि डिग्री चाटने से तो पेट नही भरता। माना कि वह फिर युनिवर्सिटी में अव्वल आयगा और अव्वल आने और भूख में तो कोई सम्बन्ध नही। अव्वल हो या दोयम—भूख सब को बराबर लगती है। आई० ए० में ही अव्वल हुआ तो क्या हुआ? उसे चंद रोटियो के लिए चोरी करनी पड़ी, उसे कई शाम भूखा रहना पड़ा। कमसेकम आधा पेट भी तो खाना मिलता। अभी तत्काल की उसकी क्या अवस्था है?

प्रमोद ने निश्चय किया कि यदि यही हालत रही तो वह ठीक युनिवर्सिटी के फाटक पर एक पान की दुकान खोल देगा और सामने अपनी डिग्री टाँग देगा। जब कोई सीनेट या सिण्डिकेट का मेम्बर वहाँ आयगा तो वह उसे दिखायगा और उन्हें बतायगा कि यह है तुम्हारी युनिवर्सिटी, जिसका अव्वल छात्र पान बेंच कर गुजर करता है। पर पान की दुकान के लिए पूँजी? हमारी युनिवर्सिटी की सबसे अच्छी डिग्री की कीमत चूना रखने की एक कटोरी भी नहीं हो सकती।

प्रमोद को इस विचार से हँसी आ गयी और वास्तव में वह हँस भी पड़ा। वह ठहाका देकर फिर हँस पड़ता यदि युनिवर्सिटी लाइब्रेरी का चपरासी उँगली में चाबी घुमाता हुआ उसे टोक न देता—"बाबू! मन ही मन हँस रहे हो?"

प्रमोद के फैले हुए होठ अचानक सिकुड़ गये, जैसे वह चोरी करते

समय पकड़ा गया हो। फिर भी उसने हँसते हुए ही कहा—"अरे! योंही कुछ खयाल आ गया था। चलो, लाइब्रेरी खोलो जल्दी!"

चपरासी फिर भी मुस्कुराया और बोला—"बाबू! मालूम पड़ता है कोई अच्छा-सा सपना देख कर उठे हो। लाइब्रेरी तो देखो, कब का खोल चुका।" प्रमोद 'धत्त' कहता हुआ भीतर चला गया।

अखबारों के ताजे समाचार उलट-पुलट कर सरसरी निगाह से देख लेने के बाद जब वह डफिन की "टॉमस हार्डी" लेकर बैठा तो पढ़ता ही चला गया। कई पैरा पढ़ लेने के पश्चात् जब किसी पूर्वोक्त कथन से तादात्म्य या सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता तो उसे लगता कि वह कथन उसने पढ़ा ही नहीं। फिर शुरू से पढ़ता और बीच में आकर भटक जाता। अक्षरों पर दौड़ते-दौड़ते ही उसके दिमाग का वायुयान जमीन छोड़ देता और उड़ने लगता। फलतः नजरें तो यंत्रवत् पंक्ति पर पंक्ति खत्म कर जातीं पर दिमाग कहीं ठहर कर कुछ और ही सोचने लगता, फिर भागता और तब कहीं ठहर कर पुनः क्षण-भर सोचता और इसी प्रकार थम-थम कर दौड़ लगाता जाता। जिस तरह वह पुस्तक की किसी बात को हृदयंगम नहीं कर सका था, उसी तरह उसका दिमाग भी किसी एक बात पर ठीक से सोच नहीं सका था। प्रमोद ने जब इस बार पैरे को तीसरी बार पढ़ना शुरू किया, तो दो पंक्तियों के बाद ही उसने पुस्तक बन्द कर दी और टेबुल पर सर रख आँखें मूँद लीं। वह अपने दूर भागे हुए दिमाग को उसी तरह पास खींच रहा था जिस तरह दूध दुहने के पहले चरवाहा, थन से अलग करते समय बछड़े की रास पकड़ कर खींचता है और बछड़ा थन की ओर तनता जाता है। प्रमोद ने दिमाग को खूँटे में बाँध दिया था पर फिर भी वह छलांग मार-मार कर दूर चला जाया करता था और ऐसा लग रहा था कि रस्सी अब कसकी, तब मसकी। प्रमोद डर रहा था—कहीं रस्सी ही न टूट जाय, इस तरह तो वह पागल बन जायगा।

•

प्रमोद महसूस कर रहा था—उसकी अवस्था उस जापानी मोटर खिलौने की तरह थी जिसमें पूरी तरह चाबी भर तो दी गयी हो पर जिसे तेजी से दौड़ पड़ने के लिए उँगली के एक हल्के धक्के की जरूरत हो। उसके अन्दर शक्ति थी, कार्य करने की उद्दाम आकांक्षा थी, पर उसे दौड़ पड़ने के लिए किसी सधी उँगली का एक हल्का-धक्का चाहिये था।

प्रमोद उठा और लाइब्रेरी से बाहर निकल गया। चपरासी से कहता गया—किताब टेबुल पर रखी है—आज दिल नहीं लग रहा। चपरासी मुस्कुराया पर प्रमोद ने उसे देखते हुए भी नहीं देखा और तेजी से चलने लगा। वह चला जा रहा था, उस लक्ष्यहीन बिहंगम की तरह शून्य में डैने फेंकता जा रहा था, जिसका धरती पर खोंता उजड़ गया हो या जिसे पकड़ लेने की ताक में बहेलिये सर्वत्र जाल बिछाये बैठे हों। इस समय न तो उसका दिमाग काम कर रहा था और न हृदय, जैसे दोनों के दोनों किसी सांघातिक आघात से एक क्षण के अन्दर चेतना-शून्य हो गये हों। प्रमोद की स्थिति उस लोथ की तरह हो गयी थी जिसे किसी तेज घोड़े की पीठ पर बाँध दिया गया हो और तब घोड़ा छोड़ दिया गया हो।

उसके पैर अनायास गंगा की ओर बढ़े और वह किनारे-किनारे ही उस होस्टल के फाटक पर पहुँच गया—जहाँ गणेश रहा करता था। उसके आगे मार्ग नहीं था और वह वहीं रुक गया। पास ही के चबूतरे पर बैठ रहा और सोचने लगा—वह गणेश से आज अपनी विपदा खोल कर कह दे या नहीं। उसने उसकी सहायता की थी, आज उसका प्रतिदान चाहिये था।

सामने, धोबी, पटक-पटक कर गंदे कपड़े धो रहे थे; धोबिनें उन्हें घास पर फैला-फैला कर सूखने दे रही थीं; उनके बच्चे इधर-उधर खेल रहे थे और पास ही कपड़ों में लिपटे चार-पाँच मास के दो छोटे-छोटे लाल बच्चे हाथ-पैर फेंक रहे थे—घुटर रहे थे। उनकी चमड़ी को सूर्य की तीखी धूप

अभी तक इतना काला नहीं बना पायी थी कि उनका श्रेणी-विभाजन हो सके, या समय की गर्दिश उन पर इतना आघात न कर पायी थी कि उनकी सुकुमारिता रुक्षता में बदल जाय। और इन सब से परे उस तरफ एक गदहा दर्शनिक की तरह आँखें मूँद निश्चल खड़ा था, मानों उसमें प्राण न हो—पत्थर की बेजान मूर्ति हो। पास ही उसकी पत्नी अपने छोटे बच्चे की देह चाट रही थी और बच्चा पूँछ डुला-डुला कर दूध पी रहा था। गदहे का यह छोटा-सा खुशहाल परिवार प्रमोद को बेहद भाया।

वह कुछ यों ही, किसी निश्चय पर बिना पहुँचे ही गणेश की कोठरी की ओर चला। किवाड़ियाँ एक दूसरे से सटी पड़ी थीं, प्रमोद ने पहले तो हल्के पुकारा और फिर खिसका कर भीतर चला गया। गणेश सो रहा था, उसके पेट के पास अधखुली किताब पड़ी थी जिसके कई पन्ने करवटें बदलने के समय मुड़ गये थे। मालूम पड़ता था कि रात में वह बहुत देर तक पढ़ता रहा था और फिर उसे उसी तरह नींद आ गयी थी। मेज और रैक पर किताबें बेतरतीब रखी पड़ी थीं, खूँटी पर कुछ कमीज और कोट टँगे थे। एक हरी कमीज, बीच में महारानी की तरह पड़ी थी जिसके पीछे का कालरवाला सोने का बटन खूब चमक रहा था। प्रमोद ने उड़ती हुई निगाह से यह सब देखा और फिर चौकी पर बैठता हुआ उसे झकझोर बैठा—"गणेश, ओ गणेश! काफी समय हो गया, कब तक सोते रहोगे?"

गणेश कसमसाया, उसने अंगड़ाई ली और उसके हाथ मसहरी के डंडे से टकरा गये। फिर उसने चादर तान ली और इधर-से-उधर, उधर-से-इधर दो-तीन करवटें लीं। तकिये को जरा दोहरा कर सर के नीचे दाबा और दीवार की ओर मुँह कर लंबी सांस लेने लगा। तकिये के नीचे से दस रुपये के कई नये-नये नोट झाँक उठे।

एक क्षण—सिर्फ एक क्षण के लिए प्रमोद के दिमाग में बिजली

कौधी और उस थोड़े ही समय मे वह न जाने क्या-क्या सोच गया। पाप-पुण्य, रात की चोरी और सुबह का प्रायश्चित, अभी का जलपान और रात का उपवास, कालेज और घर, नौकरी और बेकारी और इसी तरह पचीसो ऐसी बातें। उसके हाथ बढ़े पर वह जब नोट छूने को ही हुआ था कि गणेश ने एक लंबी साँस खींची। वह सिहरा और उसने हाथ खींच लिये। गणेश ने मुँह पर से चादर फेंक दी पर उसकी आँखें बन्द थीं। प्रमोद ने फिर तपाक् से हाथ बढ़ाया और एक नोट खींच लिया। एक सराक्-सा शब्द हुआ और तत्क्षण प्रमोद ने कुछ जोर से 'गणेश' कहते हुए उसे झकझोरा। उसका दाहिना हाथ गणेश की पीठ पर था और बायाँ हाथ जेब मे।

जेब से हाथ का निकलना और गणेश का उठ बैठना—करीब-करीब साथ ही हुए। सर के भार से मुक्त हो दोहरा पड़ा हुआ तकिया ऐंठा, पसरा और फिर पूर्ववत् नोटो को झाँपता हुआ पड़ रहा। गणेश ने हाथ बढ़ाकर खिड़की खोल दी और प्रकाश में कुछ क्षणो तक आँखें मलते रहने के बाद नीचे नौकर को दो प्याली चाय लाने को पुकारा और तब अपनी उँगलियो को चटका कर हाथों को मिला तथा दोनों कंधो को आगे की ओर सिकोड़ कर प्रमोद से पूछा—"सुबह-सुबह इधर भटक पड़े, खैरियत तो है?"

प्रमोद दीवार पर टँगे कलेण्डर के उस चित्र को देख रहा था जिसमें महात्मा गाँधी संतो की तरह निश्छल मुस्कुरा रहे थे, उनके ललाट पर की लाल रोली बिहँस रही थी और उनके टूटे हुए दोनो दाँतो के बीच की खाली जगह बड़ी भली मालूम पड़ रही थी। प्रमोद ने अपनी बढ़ी हुई दाढ़ी रगड़ते हुए कहा—"सुबह नहीं है जनाब, नौ से ऊपर बज रहे हैं।"

गणेश ने टेबुल पर से अपनी हाथ-घड़ी उठा कर देखी—"ओह! साढ़े नौ बज गये!"—उसने कहा और चाबी देने लगा। प्रमोद को कुछ सूझ नहीं रहा था कि इस तरह अनायास आ जाने का वह कौन सा

कारण बताये। और वास्तव में कोई कारण तो था भी नहीं, वह सचमुच अकारण—अनायास पहुँच गया था। यहाँ पहुँच कर उसने वही काम किया जिसके लिए वह सुबह से ही पश्चाताप कर रहा था। खैर, और उसने उस खयाल को दिमाग से निकाल देना चाहा पर बात थी कि भीतर पैठती जा रही थी—धँसती ही चली जा रही थी।

नौकर चाय दे गया तो प्रमोद उसे जल्दी-जल्दी पी गया। गणेश, नजाकत से चुस्कियाँ ले रहा था पर वह तश्तरी में ढालकर बिना फूंके घटोस गया, फिर सिगरेट सुलगा कर उसने दो-तीन बार भर-मुँह धुआँ निगला और उसे कुछ क्षण और ही अंदर घुला कर नाक और मुँह के रास्ते धीरे-धीरे निकाल दिया। इस तरह उसे एक तीखी तृप्ति मिली थी और उसकी आँखें लाल हो उठी थीं। उसके कपाल की त्रिशूलनुमा नीली-नीली नसें तन गयी थीं और उसे लग रहा था कि वे नब्ज की तरह फक्-फक् उठ-बैठ रही हैं।

गणेश ने चौकी से उतरते हुए कहा—"तुम बैठो, जरा मैं शौच हो आऊँ", कि प्रमोद भी खड़ा हो गया और बोला—"नहीं नहीं, मैं भी चला, मुझे कालेज जाना है।" फिर अपने आप ही जैसे वह सफाई दे गया—"यों ही चला आया था। तुम जानते ही हो धर्मशाले से मैं सुबह ही निकल पड़ता हूँ। लाइब्रेरी गया तो चपरासी आया था नहीं। इसलिए किनारे-किनारे हवा खाते हुए यहाँ चला आया।"

वह बाहर निकल गया। वह चला जा रहाथा और उसे लग रहा था कि अब गणेश तकिया उठा रहा होगा, नोट गिन रहा होगा, सोच रहा होगा कि एक नोट कहाँ गुम हो गया और अब वह निकल कर पुकार बैठेगा—"प्रमोद, सुनो तो!" उसे लगा, कोई उसे वास्तव में पुकार रहा था—"प्रमोद, ओ प्रमोद।" पर प्रमोद के पैर भागते जा रहे थे और वह मुड़कर देखना चाह रहा था, पर देख नहीं पा रहा था। इस तरह वह सीढ़ियों को पार करता हुआ सामने

फुलवारी में आ गया, फाटक खोल कर सड़क पर आ गया—और वह आवाज—"प्रमोद सुनो तो !" और भी जोर-जोर से उसके कानों से टकराने लगी। वह सर पर पैर रख भाग जाना चाह रहा था, उसके पैरों में न जाने कौन-सी सोयी गति जाग उठी थी कि किसी ने पीछे से उसका कंधा जोर से पकड़ लिया।

प्रमोद हक्का-बक्का मगर की पूँछ की तरह उलटा तो उसके पैर के नीचे की धरती ही खिसक गयी—"प्रोफेसर साहब ? ओह ! प्रणाम !" वह बेतरह हाँफ रहा था।

"अरे, तुम तो कुछ सुनते नहीं, कहाँ भागे जा रहे हो इस तरह ?" प्रोफेसर के चेहरे पर एक मंद मुस्कान खेल रही थी; वैसी मुस्कान, जैसी कि सतानोत्पत्ति की खबर लेकर आनेवाले नाई के मुँह पर छिटकी रहती है, या बाजी में जीत का तार लेकर आनेवाले डाकिये के मुँह पर थिरकती रहती है। "तुम काफी परेशान दीखते हो, क्या बात है ?"

"जी कुछ नहीं, आप यहाँ कैसे ?"

प्रोफेसर के चेहरे पर की अवस्थागत झुर्रियाँ अचानक भर गयी थीं और उनमें से प्रसन्नता की आभा दीप्त हो छिटक रही थी। उनकी छोटी आँखें और भी छोटी हो गयी थीं और ढीले होठ फैल कर तन गये थे। एक क्षण के लिए प्रमोद के सामने गणेश की कोठरीवाले कलेंडर में के महात्मा गाँधी का चित्र घूम गया—हँसता हुआ—बच्चों की तरह खिलखिलाता हुआ। प्रोफेसर ने उसका कंधा थपथपाया और कहा—"वह है मेरा क्वार्टर।" उन्होंने होस्टल-सुपरिण्टेण्डेण्ट के निवासस्थान की ओर इशारा किया—"ऐसी बात थी तो तुम्हें मुझसे कहना चाहिये था न !"

प्रमोद फिर अकचकाया—कौन-सी बात ? कहीं उसकी चोरी का पता तो नहीं लग गया।

"मुझे गणेश से सब पता लग चुका है।"

प्रमोद का आश्चर्य चरमसीमा पर पहुँच गया था और वह चाह रहा था कि दोनों हाथों से प्रोफेसर के पैर पकड़ कर वह खूब रोये।

"सब के सब दिन समान नहीं रहते। बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेय।" जैसे कि कोई ज्वालामुखी अचानक भभक उठा हो— या कि कोई बाँध पानी की तेज धार से अचानक टूट गया हो, उसी प्रकार प्रमोद ने अचानक पर जरा तेज आवाज में जल्दी-जल्दी कहा—"मैं कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ प्रोफेसर साहब आप क्या कर रहे हैं मेरा दिमाग काम नहीं कर रहा है।"

प्रोफेसर ने सर डुला कर मुस्कुरा दिया, वात्सल्य से उसका कंधा थपथपाया, और इसी तरह दोनों बैठके में प्रविष्ट हुए। प्रोफेसर जितना ही शांत थे, प्रमोद के अंतर में उतनी ही खलबली मची थी।

"बैठो"—प्रोफेसर ने सहज मुस्कान के साथ कहा और अपनी कुर्सी पर बैठते हुए पुकारा—"रम्भा! रम्भा!!"

भीतर से "आयी" की आवाज आयी और एक ही पल के अंदर पर्दा हटा कर १८-१६ वर्ष की एक लड़की मेज के पास आकर खड़ी हो गयी।

"बेटा! यही हैं मिस्टर प्रमोद। इनके बारे में............।"

लड़की के मुख से अनायास 'ओह' निकला और कुछ आश्चर्य—कुछ प्रसन्नता से उसने अपने दोनों हाथ जोड़ दिये।

"जरा, दो प्याली चाय तो ले आ बेटा।"—और वह जिस तरह आयी थी, उसी तरह आँचल सम्हालती हुई तेजी से निकल गयी। उसकी मंद-मंद मुस्कान के सुनहले कण अभी भी कोठरी में तैर रहे थे।

प्रोफेसर ने मेज की दराज से कागजों का एक पुलिन्दा निकाला और उसे अपने सामने फैलाते हुए कहा—"तुमने कहीं ट्यूशन के लिए दरखास्त दी है?"

"जी हाँ!"—प्रमोद सम्हल कर बैठ गया और जिज्ञासा से पुलिन्दे के कागजों की ओर देखने लगा।

"बैरिस्टर साहब मेरे अपने भाई हैं और उन्होंने सारी दरखास्तें मेरे पास भेज कर मेरा निर्णय माँगा है।"

प्रमोद की आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं और उसके दिमाग के पिछले हिस्से में जैसे कोई उससे कह गया—"प्रमोद, काम मिल गया—काम मिल गया।"

"—और, मैंने तुम्हारे नाम की सिफारिश की है। आज संध्या समय तुम्हें मेरे साथ चलना है।"

प्रमोद खुशी से पागल हो रहा था, वह तत्क्षण खड़ा हो गया। उसने प्रोफेसर के दोनो हाथ पकड़ लिये और उन्हें जोर से चाँपते हुए सिर्फ इतना ही कहा—"प्रोफेसर साहब !"

इन दो शब्दो में न जाने कृतज्ञता के कितने गंभीर भाव भरे थे। वे मँझधार मे डूबते हुए उस नाविक के शब्दों के सदृश सरल थे जिसने एक क्षण के ही अंदर न जाने किस तरह अपने को किनारे पर खड़ा पाया है। वे उस विधवा के शब्दों के सदृश तरल थे जिसकी एकमात्र संतान न जाने किस तरह मर कर जिन्दा हो गयी है। इनमे उस मछली के वे अगणित सिक्त धन्यवाद छिपे थे जो किनारे छटपटा रही थी, पर अनायास किसी अलक्ष्य हाथों द्वारा दौड़ती धार में फेंक दी गयी थी। एक क्षण तक प्रमोद को ऐसा लगा कि वह रो देगा, उसकी आँखें वाष्प-युक्त हो गयी थीं और नाक की नसें फनफनाने लगी थीं। वह उठा और तेजी से भागा। प्रोफेसर साहब पुकार रहे थे पर वह भागा जा रहा था। वह क्वार्टर से बाहर आया दौड़ता हुआ, होस्टल के फाटकों को झकझोरता हुआ बाग में पहुँचा, और दो-तीन सीढ़ियाँ एक साथ पार करते हुए गणेश की कोठरी में आँधी के झोकों की तरह घुसा। उसने गणेश के पैर पकड़ लिये, ठेहुनों से मुँह लगा कर रगड़ता हुआ रोकर कहा—"मुझे माफ कर दो गणेश, मुझे माफ कर दो।"

गणेश तौलिये से, शीशे में देखता हुआ अपना मुँह पोंछ रहा था।

शीशा फर्श पर गिर कर चकनाचूर हो गया, तौलिया उसने कुर्सी के हत्थे पर फेंकी और दोनों हाथों से प्रमोद को उठाकर साश्चर्य देखा—"क्या हो गया तुम्हें ?"

प्रमोद ने दस का नोट निकाला, उसे देते हुए सर झुकाकर कहा—"अभी अभी मैंने तुम्हारे यहाँ चोरी की थी। पर............पर मुझे माफ कर दो गणेश ! मैं विवश था, मैं भूखा था।" और वह गणेश की छाती से चिपक कर बेतरह रो पड़ा।

साश्चर्य पीछे-पीछे आकर, पास ही खड़े प्रोफेसर ने उसके कंधों को थपथपाया। प्रमोद उनकी छाती से इतने जोर से चिपका कि वे ढनमना गये। प्रमोद की घिग्घी बँध गयी थी।

लौट कर पुनः क्वार्टर पर पहुँच चाय की चुस्कियाँ लेते हुए प्रोफेसर ने कहा—"जन्म से हम प्रकृति की निश्छल और निर्दोष संतान हैं, पर हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ हमें चोर, डाकू और विध्वंसवादी बनने को मजबूर कर देती हैं।............मेधावी युवक बेकार होकर ही गलत राह अपनाते हैं।"

रंभा, प्रमोद से जिद कर रही थी—"एक मिठाई और लीजिये न।"

———

३

संघर्ष

उलटी चँगेरी पर उलटी टोकरी और उस पर पाँच नम्बर की गेंद रख जैसे एक कपड़ा डाल दिया गया हो,—प्रमोद जब कभी शोभा को ओसारे पर बैठी देखता तो यही कल्पना करता। शोभा का गोल, गुलथुल बदन था—जितना बड़ा सर, उससे बड़ा गले के नीचे का अंश और उससे भी बड़ा कमर का अधोभाग। वह इतनी मोटी थी कि छाती पर साड़ी पहनती, जिसका निचला हिस्सा पैरों की चारों ओर लगभग दो बित्ते के व्यास से एक वृत्त बना लेता। जब चलती तो ऐसा मालूम पड़ता कि दाहिना पैर उठाने के पहले वह अपना सारा भार बायें पैर पर फेंक कर उसे तौल लिया करती है—और इस प्रकार एक गर्भिणी बत्तख की तरह डोलती-झुकती चला करती। उसकी उम्र २५-२६ के ही आसपास थी और वह विधवा थी। छोटी-छोटी गोल-गोल धँसी आँखें अपनी चारों ओर फैली हुई गहरी स्याही के बीच अंधकार में भी चमकती रहतीं। प्रमोद ने जब उसे पहले-पहल देखा तब वह डर गया था और उसने अंदाजा लगाया था कि शोभा गर्भवती है। पर कई महीनों के

बाद भी जब उसने उस रूप में कोई परिवर्तन नहीं देखा, तब वह एकांत कोठरी में अपनी नासमझी पर स्वयं हँस पड़ा था। उसे शोभा की आँखों में वैसी ही तीव्र बुभुक्षा झाँकती हुई मिलती जैसी कि उसने उस नेपाली औरत की आँखों में देखी थी, और जिसे देख कर उसका रोआँ-रोआँ सिहर उठता था। ऐसे अवसरों पर वह मन की आँखों से शोभा के निरावरण-अनावृत्त रूप की मांसल कल्पना करता और उसकी विकृति पर हँसता हुआ तकिये में मुँह छिपा कर सो जाता।

ठीक इसके विपरीत विभा थी—श्मशान से लाये गये आदमकद कंकाल पर जैसे किसी चतुर कारीगर ने महीन कोमल और पारदर्शी त्वचा मढ़ दी हो। लम्बा मुँह, सुडौल नुकीली नाक और पतले अधर। जब वह हँसती तो गालों और होठों के बीच की रेखाएँ दोनों ओर धनुषाकार तन जातीं और प्रमोद उन्हें देखते रहने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। उसे रंगीन कपड़े पहनने का शौक था और वैसे पोशाक में वह हमेशा इस तरह चंचल दौड़ती-फिरती जैसे किसी कीमती विलायती खिलौने को रंगीन टीसू कागज में लपेट दिया गया हो। विभा, महज १७–१८ साल की थी और कुमारी थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, बड़ी-बड़ी पलकों के बीच इस तरह पड़ी रहतीं, जैसे जल से भरी कटोरी में नीली स्याही की एक गोटी रख दी गयी हो और जो धीरे-धीरे पिघल कर सारे जल को नीला बना रही हो। उसकी आँखों में एक तरलता थी जो आकर्षित करती थी—वैसी ही, जैसी कि मोर की आँखों में होती है। वह अच्छी लगती थी और उसके प्रसाधन सुरुचिपूर्ण हुआ करते थे। उसके पतले-पतले लाल मुरझाये होंठ चेहरे पर ऐसे दीख पड़ते जैसे सोने की थाली में गुलाब की दो झरी हुई पंखुड़ियाँ सटी पड़ी हों।

और इन दोनों से अलग थी आभा—१४-१५ का सीन, गठा और जैसे साँचे में ढला हुआ बदन। वह न मोटी थी, न दुबली—ऐसी, जैसी कि उसे उस उम्र में होना ही चाहिये था। वह पंजाबी पोशाक

पहनती थी जो उसे और भी सुंदर और आकर्षक बना देता था। शरीर से एकदम सटे परिधान उसके अंगों को छिपाते हुए भी एक लाक्षणिकता के साथ और भी उभार कर प्रदर्शित किया करते थे। गले और बाँह पर पड़ा हुआ महीन दुपट्टा फर-फर करता हुआ फिसलता जाता और तेज चलती हुई आभा को पता ही नहीं लगता कि वह कब पीछे सड़क बुहारने लग गया है और अपने पर सौंपे हुए कार्यों से उदासीन या विमुख हो चुपचाप हवा खाने लग गया है। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें सदैव उनींदी-सी रहतीं और उनके कोर लाल रहते। सींक-सी महीन काजल की रेखा पर तैरती हुई कोरों की वह गुलाबी ऐसी मालूम पड़ती जैसे पूर्णिमा का उगता चाँद चितकबरे बादल के एक छोटे-से टुकड़े के पीछे पड़ गया हो और उसकी रश्मियाँ कोरों को गुलाबी बनाती हुई फैलने लग गयी हों। उसे संगीत और नृत्य से भी काफी रुचि थी। कभी दोपहरी रात में वह अपनी कोठरी में बैठी-बैठी गुनगुना उठती और प्रतिदिन प्रातःकाल पैरों में नूपुर बाँध नृत्य का अभ्यास किया करती। कानों को छूती हुई उसकी चितवन प्रमोद को बरबस पंत की उन पंक्तियों की याद दिला देतीं –

"बाल युवतियाँ तान कान तक चल चितवन के बंदनवार।
मदन तुम्हारा स्वागत करतीं खोल सतत् उत्सुक दृगद्वार॥"

शोभा, विभा, आभा,—तीन हुईं न; बैरिस्टर रंजन की ये तीन ही बेटियाँ थीं और वे अब विधुर थे। बैरिस्टर साहब लंबे डील-डौल, कसरती बदन, उन्नत ललाट और रौबदार चेहरे वाले—नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों में अन्यतम व्यक्ति थे और उनकी हजारों की प्रतिमास आय थी। आप स्वतंत्र विचार के स्पष्टवादी प्रगतिशील व्यक्ति थे और

इसलिए किंचित् अहंवादी भी थे। उनके जीवन में ऐसे कई अवसर आये जब कि उनके स्वतंत्र विचार प्रगल्भ समझे गये, उनकी स्पष्टवादिता अहितकर सिद्ध हुई एवं प्रगतिशीलता अवसरवादिता का पर्याय बन गयी। फिर भी अपने अध्ययन, अनुभव एवं अध्यवसाय के कारण वे मान्य एवं श्रद्धा के पात्र समझे जाते थे। उनके गुणों से बाध्य होकर उनके विरोधी भी प्रशंसक थे और उसका प्रधान कारण यह था कि अपने विरोधियों पर आक्रमण करते समय वे उनके दिल को दुखाने से अधिक उनकी उन भावनाओं को ही अपने व्यंग्य और कटाक्ष से गुदगुदा देते थे जिनके चलते चेहरे पर प्रतिशोध नहीं, बल्कि सलज्ज हास्य झलक उठता था। आक्रमण के बाद ही वे उनके कंधों पर हाथ रखते हुए हँस कर "बुरा तो नहीं माना आपने!" कह दिया करते थे और उनका यह विनीत भाव ही उनके सर को इतना बुलंद कर दिया करता था कि सारा विरोध पस्त हो जाया करता। बैरिस्टर साहब विनीत थे—अत्यधिक विनीत, और उनकी इस विनय को उनके कानों के पास के फरफराते हुए श्वेत बाल, बादल के उन टुकड़ों की तरह गरिमा प्रदान किया करते थे जो बरसने के पहले झुक कर छोटे-छोटे पर्वत-शिखरों के भी गले का हार बन जाया करते हैं।

घर का सारा प्रबंध शोभा के हाथों था। वह मचिये में धँसी बैठी रहती और उन सभी सूत्रों का संचालन किया करती जो कि उसके हाथों में आ जाया करते थे। जब बैरिस्टर साहब घर पर नहीं रहते तब टेलीफोन का बक्सा अपने पैरों के पास रखती और उन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया करती जो कि उनकी अनुपस्थिति में न जाने कितनी जगहों से हमेशा पूछे जाते थे। आवश्यकतानुसार पास ही रखी बही पर लिख भी लेती और घण्टों नौकर-नौकरानियों को अपनी चारों ओर बैठा कर या तो गप्प लड़ाती, नहीं तो कुछ पढ़ती रहती। इसलिए कि उसका शरीर काफी भारी था, वह निचले तल्ले में ही कोनेवाली कोठरी में रहा करती

जिसके ओसारे पर पीतल के कई चमचमाते हुए गमले और एक आराम-कुर्सी रखी रहती। तितली की तरह फुदकनेवाली विभा, जब-तब खिलखिलाती हुई कह देती—"दीदी, दुनिया बहुत तेजी से बदल रही है, तुम क्या जानो। तुम तो २४ घण्टों में बस बीस कदम ही तो चला करती हो। कमरे से निकली, पाँच कदम पर बाथरूम, पाँच कदम पर आँगन, और फिर पाँच कदम पर आराम-कुर्सी, पाँच कदम पर पलंग।" एक बार चूहेदानी में एक मोटा छुछुन्दर फँस गया था तो विभा उसे लेकर दौड़ी हुई शोभा के पास पहुँची और बोली—"दीदी, इसे तो तुम पालो-पोसो ही।"

"अरे, इसे पाल-पोस कर मैं क्या करूँगी?"

"गणेश जी की तरह, इसपर रोज सवारी कस कर तुलसी-चौरे का चक्कर लगाया करना दीदी। गणदेवी तो नहीं बन सकोगी; हाँ, परलोक तो सुधर ही जायगा।" नौकर नौकरानियाँ-समेत बैरिस्टर साहब भी चाय पीते समय ठहाका देकर हँस पड़े थे और मुस्कुराती हुई शोभा ने जरा झपट कर विभा की चोटी पकड़ने की जो कोशिश की थी तो बेचारी मचिया कचकती हुई कई अंगुल पीछे खिसक गयी थी।

× × ×

प्रमोद पहले-पहल उस दिन संध्या समय जब प्रोफेसर साहब और रम्भा के साथ बैरिस्टर साहब के यहाँ पहुँचा तब बाहर के बैठके में लगभग आध घण्टे तक उसे अकेला ही रहना पड़ा। प्रोफेसर और रंभा उसे वहीं बैठे रहने को कह भीतर चले गये थे। प्रमोद ने देखा—चारों ओर कमरे में किताबें ही किताबें हैं। दस-दस फीट ऊँची आल्मारियों में मोटी-मोटी किताबें ठसमठस भरी पड़ी थीं। लगभग पाँच मिनटों तक चुप बैठे रहने के बाद वह उठ खड़ा हुआ और किताबों को देखने लगा। पहली आल्मारी में सिर्फ ऑल इण्डिया रिपोर्टर्स की बँधी फाइलें थीं। दूसरी आल्मारी में कानून पर तरह-तरह की पुस्तकें थीं, तीसरी की भी वही

हालत थी। प्रमोद ने इतनी किताबों में से एक का भी नाम नहीं सुना था। चौथी में उसे कई परिचित नाम मिले—हार्डी, वुल्फ, जोयस, रोलाँ, मोपासाँ आदि की जगत्-प्रसिद्ध पुस्तकें थीं, नीचे नीत्शे, फ्रायड, शॉपेनहॉवर आदि की दार्शनिक पुस्तकें। पाँचवीं आल्मारी में सबसे ऊपर मार्क्स की कैपिटल थी, फिर लेनिन की चुनी-चुनाई रचनाओं के संग्रह। उसके बाद ही त्रात्स्की की पुस्तकें थीं, रसेल और लास्की की रचनाएँ थीं और पास ही गोर्की, टालस्टाय और शोलोखोव के उपन्यास थे। नीचे कई अंग्रेजी पत्रिकाओं की लम्बी-मोटी फाइलें थीं जिनके नाम प्रमोद ने आज तक नहीं सुने थे। छठी आल्मारी में सिर्फ इतिहास की पुस्तकें थीं—रोम, जापान, जर्मनी, इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस, भारत आदि देशों के सम्बन्ध में मोटी-मोटी पुस्तकें। उसके बाद एक छोटी आल्मारी कोने में सटी थी, जिसमें चंद्रकांता-संतति और भूतनाथ, ब्लेक की जासूसी कहानियों के हिन्दी अनुवाद पड़े थे तथा नीचे फिल्म इण्डिया की कई फाइलें बेतरतीब रखी थीं। प्रमोद ने देखा—इन्हीं फाइलों के बीच में बच्चन की 'मधुशाला' इस तरह दुबकी थी जैसे दारू के दो घड़ों के बीच ताड़ी की लबनी पड़ी हो। प्रमोद किंचित् मुस्कुरा उठा—लगभग दो-तीन हजार पुस्तकों के बीच हिन्दी-साहित्य के इस नगण्य प्रतिनिधित्व पर। उसने उलट कर एक बार पुनः सरसरी निगाह से सभी आल्मारियों को देखा और फिर कुर्सी पर बैठ कर सोचने लगा—कमरे में बंद इस विचारों की दुनिया में भारत कहाँ है? या तो मुकदमे-बाजी की इन रिपोर्टों में, नहीं तो भारतीय इतिहास की एकमात्र उस मोटी-सी पुस्तक में। प्रमोद धीरे-धीरे अपनी तलहथियों को रगड़ रहा था और अब अपनी गरदन पीछे फेंक ठेहुना पर ठेहुना चढ़ा पैरों को इस तरह झुलाने लगा था जैसे बुट्ठी की हड्डी टूट गयी हो। फिर वह उठा और इतिहास की पुस्तकों से भरी हुई आल्मारी के पास जाकर यह देखने लगा कि भारतीय इतिहास पर लिखी गयी वह एकमात्र पुस्तक किस लेखक

की है। उसने आल्मारी के शीशे से आँखों को सटाकर देखा—स्मिथ का नाम स्वर्णाक्षरों में चमक रहा था। वह उसी तरह शीशे पर मस्तक टिकाये खड़ा था और उसकी नाक से निकली गर्म साँसें शीशे पर फैल कर एक वाष्पीय तरल-धूमिल पर्त तैयार कर रही थीं। वह लौट कर कुर्सी पर बैठ रहा और अपने हाथों की आठ उंगलियों को उलझा कर शेष दोनों अंगूठों से अपनी नाक हल्के चाँप-चाँप कर सहलाता रहा।

नौकर द्वारा बुलाये जाने पर वह भीतर गया और उसने देखा कि एक मेज की चारों ओर सारा परिवार ही जुटा बैठा था। दरवाजे पर ही उसने दोनों हाथ जोड़ दिये और प्रोफेसर साहब का संकेत पाकर एक कुर्सी पर बैठ रहा। सब की नजरें उस पर गड़ी थीं और वह मेज की ओर ताकता रहा था, फिर टेबुल-क्लॉथ के कोर उँगलियों से तानने लग गया था। बैरिस्टर साहब इस असाधारण नवयुवक की ओर बड़े गौर से ताक रहे थे, मानो यह पता लगाना चाह रहे हों कि इसकी असाधारणता कहाँ छिपी है। वे उसके चेहरे की ओर देख रहे थे और उसपर की प्रत्येक रेखा को पढ़ लेने की कोशिश कर रहे थे। श्यामलवर्ण का सूखा चेहरा, रूखे-सूखे बड़े-बड़े बाल, बढ़ी हुई दाढ़ी—प्रमोद की विपन्नता अपने पूर्णरूप में वहाँ विद्यमान थी। बैरिस्टर साहब ने गौर किया—कपाल पर भी रेखाओं तथा हाथ की उँगलियों के गठन से उसके अत्यधिक चिन्तनशील होने के प्रमाण मिल रहे थे। उन्होंने देखा—प्रमोद की ऊपरवाली असाधारण रूप से बड़ी-बड़ी पलकें इस तरह झुकी रहती थीं कि उनकी छाया में उसकी छोटी-छोटी चमकीली आँखें अधमुँदी प्रतीत होती थीं। बैरिस्टर साहब ने आज तक ऐसी आँखें नहीं देखी थीं।

बैरिस्टर साहब ने मौन भंग किया—"आपसे मिल कर बेहद खुशी हुई। भाई साहब से आपके विषय में सब सुन चुका हूँ।"

प्रमोद कहना चाहता था—"आपकी कृपा", पर वह कह नहीं सका

और अपनी कुर्सी के दाहिने हत्थे पर दाहिने अंगूठे के नख से किनारे-किनारे रेखाएँ खींचता रहा।

तब तक भूने हुए काजू तश्तरी में सामने रखे जा चुके थे, चाय की खाली प्यालियाँ और ट्रे भी पहुँच गये थे। एक तरफ विभा चाय बना रही थी, दूसरी ओर आभा। बैरिस्टर साहब ने दाँतों से काजू काटते हुए कहा—"आपकी सबसे अधिक रुचि किस विषय में है?"

प्रमोद मिनट भर चुप रहा। वह मन ही मन सोच रहा था, किस विषय का नाम ले वह। थूक घोंटते हुए बोला—"सच पूछिये तो आपके कहने पर ही मै अपनी रुचि के विषय में सर्वप्रथम सोच रहा था।........ सोच रहा था, वास्तव में मेरी रुचि किस विषय में है?........मैं विज्ञान का विद्यार्थी था, दुर्भाग्य ने कला के क्षेत्र में लाकर पटक दिया—और जब चंद महीने पूर्व पहले आई० ए० की परीक्षा देकर लौटा तो मैंने पाया कि आई० एस-सी० के प्रश्नों का भी बहुत अच्छी तरह उत्तर मैं दे सकता था। अवसर मिलने पर मैं विज्ञान की भी पुस्तकें पढ़ा करता था। आई० ए० में मेरा गणित नहीं था, पर मैं अपने एक सहपाठी को रोज गणित पढ़ाया करता था—कुछ रुपये मिल जाते थे उससे। आई० ए० में अर्थशास्त्र था, बी० ए० में इतिहास ले रखा है। आगे न जाने क्या हो, भाग्य साथ देता तो शायद मैं अभी डाक्टरी पढ़ता रहता।"

बैरिस्टर ने चाय की चुस्की ली, सभी प्रमोद की ओर एकटक ताक रहे थे। रंभा बोली—"कहने का मतलब यह है कि आप ऑल राउण्ड हैं।"

"जी नहीं। ऑल राउण्ड कोई हो नहीं सकता। जब ज्ञान का क्षेत्र बहुत अधिक सीमित था तब एक अरस्तू पैदा हुआ था, जिसे लोग ऑल राउण्ड मानते थे। आज ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत और गंभीर हो गया है कि आइन्सटीन के सिद्धान्तों को समझनेवाले सिर्फ आधे दर्जन विद्वान् ही दुनिया में हैं—ऐसा कहा जाता है। प्रश्न रुचि का था जो भारतीय विद्यार्थियो के सम्मुख कभी उठा ही नहीं। भारतीय विद्यार्थियों के

लिए तो परीक्षाएँ पास करना है तपस्या और सरकारी नौकरी पा लेना मोक्ष। आप यदि चाहें कि उपन्यासों से रुचि रखनेवाला आपका लड़का डाक्टर ही बने तो आप उसे बना सकते हैं, भले ही वह एक-एक क्लास में पाँच-पाँच वर्षों तक क्यों न लोघड़ता रहे।"

प्रमोद ने एक काजू उठा लिया और अपनी चाय की प्याली में चम्मच चलाना शुरू किया।

बैरिस्टर बोले—"फिर भी किसी एक विषय में तो आपको सबसे अधिक रस मिलता ही होगा।"

प्रमोद ने चम्मच चलाना छोड़ दिया। काजू को नख से कुरेदते हुए कहा—"मुझे उन सभी चीजों मे रस मिला करता है, जिनसे किसी न किसी ज्ञान की उपलब्धि होती है या उपलब्ध ज्ञान का विस्तार होता है। मैं परीक्षाएँ पास करने को व्यक्तिगत रूप से, उतना महत्त्व नहीं देता जितना ज्ञान की प्राप्ति को। मेरे कई ऐसे मित्र हैं जो इण्डियन फिलासफी पढ़ते हैं, पर भारतीय दर्शन का अर्थ नहीं जानते। लिटरेचर की रंगीन परी से वे खूब परिचित हैं, पर साहित्य किस चिड़िया का नाम है—वे नहीं जानते। इसका प्रधान कारण यह है कि उन्हें इण्डियन फिलासफी या लिटरेचर के प्रश्न पूछे जाते हैं, भारतीय दर्शन या साहित्य के नहीं।"

और थोड़ा रुक कर काजू को दाँतों के बीच रखते हुए प्रमोद ने आगे कहा—"संभव है, यहाँ रहकर मैं आपकी सभी कानूनी किताबों को भी पढ़ जाऊँ।"

आभा ने कहा—"चाय ठण्ढी हो रही है।" प्रमोद ने फिर चम्मच चलाना शुरू किया और कुछ देर बाद एक घूँट पिया। वह उसे इस तरह कण्ठ के नीचे उतार गया जैसे कुनैन पी रहा हो। वह मन ही मन थोड़ा झुँझलाया, पर चुप रहा। एक काजू उठा कर चबाने लगा।

इस बार प्रोफेसर साहब बोले—"परीक्षाएँ पास करना भी तो कम महत्वपूर्ण नहीं है।"

महत्वपूर्ण तो है ही, कम से कम सरकारी नौकरी पाने के लिए तो जरूर। पर इस मोक्ष के बाद? फिर कोई तपस्या, कोई संघर्ष, कोई प्रगति नहीं रहती। उन विद्यार्थियों को देखिये जो परम मेधावी होते हैं, पर नौकरी पा लेने के बाद ही न जाने सारी प्रतिभा किस ताख पर रख कर वे परम निश्चिन्त हो बैठ रहते हैं। और परीक्षा? हमारे वास्तविक ज्ञान की परीक्षा कभी भी नहीं होती। परीक्षा होती है सिर्फ इस बात की कि हमने पाठ्य-पुस्तकों को कहाँ तक कंठस्थ किया है। एक सच्ची बात बताऊँ तो आपको हँसी आयगी। एक अनुभवी शिक्षक ने अच्छा नंबर पाने का एक गुटका मुझे बताया था—और वह यह कि पहले ही पता लगा लिया जाय कि परीक्षक किस मनोवृत्ति का है। यदि वह किसी विशेष कवि का प्रशंसक है तो भूल कर भी उनके पत्र में उक्त कवि की भर्त्सना न की जाय—बल्कि जगह-जगह उसके उद्धरण दिये जायँ।"

आभा ने फिर टोका—"चाय पीजिये न!" प्रमोद होठों के कोनों में मुस्कुराया और बोला—"इसमें चीनी ही नहीं है।"

सभी हँस पड़े, आभा ने अकचका कर जीभ काटी—"ओह! मैं बातें सुनने में ही रह गयी।" वह तत्क्षण खड़ी हो गयी और चम्मच से चीनी डालने को ही थी कि बोली—"दूसरी प्याली ही बना देती हूँ, यह तो काफी ठण्ढी हो गयी होगी।"

"जी नहीं, मैं पी लूँगा इसे।"

आभा ने चीनी डाल चम्मच घुमाना शुरू किया, उसके कान एकदम लाल हो गये।

विभा ने सूत्र जोड़े—"आपका कहना एकदम ठीक है। मेरे एक प्रोफेसर हैं जो गुप्त जी को एकदम नहीं चाहते। मैंने एक दिन टुटो-रियल में "ओ क्षणभंगुर भव राम-राम!" पर यह लिख मारा कि मानों कवि साँप-बिच्छू का कोई मंत्र पढ़ रहा हो तो उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी और दस में छः नम्बर दिये।"

सभी हँस पड़े। आभा सरक उठी और उसने अपना गला चाँप लिया, रंभा ने मुँह छिपा लिया और बैरिस्टर साहब धुआँ छोड़ने लगे।

प्रमोद को शह मिला, बोला—"बताइये तो, ऐसी परिस्थिति में सही-सही मूल्यांकन कर कोई क्यों आफत मोल ले। गुप्त जी की वह कविता न तो साँप-बिच्छू का मंत्र है और न कोई गहन दार्शनिक तथ्य का निरूपण। यदि मैं सही-सही यह लिख दूँ कि वह एक ऐसी तुकबंदी है जिसमें कोष के सभी मकरान्त शब्द खोज-खोज कर भर दिये गये हैं तो मुझे नम्बर के बदले बड़े-बड़े रसगुल्ले मिलेंगे।

एक क्षणिक शांति छा गयी। प्रोफेसर साहब प्रमोद के वाक्यों की सच्चाई महसूस करते हुए चश्मा उतार आँखें पोंछने लग गये थे, रम्भा अपनी साड़ी का छोर उँगली में उमेठते हुए अपने पिता की उन तस्वीरों को याद कर रही थी जब कि वे ऊँघते-ऊँघते कॉपियों पर लाल पेंसिल चलाया करते थे या जल्दीबाजी में पन्ने गिन कर नम्बर बैठाया करते थे, शोभा साड़ी का किनारा तान कर पेट पर खोंसती हुई यह सोचने लगी थी कि लड़का बड़ा बातूनी मालूम पड़ता है, विभा यह आँक रही थी कि यदि प्रमोद दाढ़ी बना लेगा और उसे भर पेट भोजन मिलने लगेगा तो कितना सुन्दर और आकर्षक लगेगा, आभा कुछ और अधिक सुनने की मुद्रा में आगे खिसक कर उसे एकटक ताकने लग गयी थी, और बैरिस्टर साहब उसके चेहरे पर की फैलती और सिकुड़ती हुई उन रेखाओं में गहरी अनुभूतियों को समझने का प्रयास कर रहे थे जो ताँत की तनी हुई डोरी की तरह जरा-सी चोट पर गूँज उठा करती थीं।

और इन सब से परे प्रमोद सर झुकाकर यह सोच रहा था कि वह बहुत बोल रहा है, उसे कम बोलना चाहिये। वह चाह रहा था कि उसे एक सिगरेट मिलती तो उसके धुएँ में अपने को क्षण भर भूल जाने की कोशिश करता।

रंभा ने बातचीत का सिलसिला बदला—"आपको चाचा जी की लाइब्रेरी कैसी पसंद आयी?"

"जी, अच्छी है।" प्रमोद अनायास बोल गया। पर इसके साथ ही उसके हृदय में एक ऐसा भाव जगा जिसे वह जितना की दबाना चाह रहा था, उतना ही वह बाहर निकल पड़ने को तड़फड़ाने लगा था। उसके दिल में एक इस प्रकार की खुद-बुदी-सी मच रही थी कि रह-रह कर वह बात गले तक आती, फिर लौट जाती। प्रमोद उसे दाब देने का प्रयत्न कर रहा था और वह सफल हो जाता यदि शोभा ने खोंचा मार कर उसे भड़का न दिया होता।

"इतनी अच्छी-अच्छी किताबें यहाँ किसी एक आदमी के पास नहीं। बड़े-बड़े लोग माँग कर पढ़ने ले जाया करते हैं।"—शोभा का सीना तन गया था।

प्रमोद को यह अच्छा नहीं लगा। भीतर का कुलबुलाता हुआ भाव जैसे उछलकर मुँह में आ गया और होठों को खुला पाकर निकल गया—"बड़े-बड़े लोग ही माँग कर पढ़ने ले जाते होंगे, क्योंकि वास्तव में आपकी लाइब्रेरी हमारे यहाँ के उस वर्ग का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है जिसमें बड़े-बड़े लोग पैदा होते हैं।"

बैरिस्टर साहब अचानक, तेजी के साथ टेबुल पर झुके जैसे पीछे से किसी ने उनकी बगल में छुरा भोंक दिया हो।—"आपका मतलब ?"

प्रमोद बोल गया—"यही कि हमारे यहाँ के बड़े लोग देश में रहते हुए भी विदेश में रहा करते हैं। यहाँ की बस तीन चीजें ही वे जानते हैं—मुकदमे बाजी, विकृत इतिहास और ऐय्यारी तथा जासूसी के उपन्यास। बहुत हुआ तो बच्चन की मधुशाला गुनगुना ली।" प्रमोद कहने को तो कह गया पर उसने मन ही मन जीभ काटी। कहीं सारा गुड़ ही न गोबर हो जाय। उसने देखा—प्रोफेसर और बैरिस्टर के कपाल पर की रेखाएँ एकाएक संकुचित हुईं, भौहें तनीं और फिर फैल गयीं। बैरिस्टर साहब ने मन ही मन अपनी लाइब्रेरी का कोना-कोना छान डाला पर प्रमोद के इस तीखे व्यंग्य का उत्तर कहीं नहीं मिला, उलटे उसकी पुष्टि ही हुई।

उनकी फैली हुई पलकें धीरे-धीरे सिकुड़ती गयीं और उन्होंने आँखें झुका लीं।

बार-बार बैरिस्टर साहब के मुख से हिन्दी का उपहास सुनते-सुनते खीझ उठने वाली आभा जैसे किलक उठी। बहुत ही भोलेपन के साथ वह बोली—"और वह बच्चन जी की मधुशाला भी खरीदी नहीं गयी, बल्कि उपहार में मिली है। परसाल कवि-सम्मेलन के अवसर पर बच्चन जी यहीं ठहराये गये थे, जाते समय मधुशाला की एक प्रति, यों कहिये कि एवज में देते गये।"

बैरिस्टर साहब का सर और भी झुक गया। वास्तव में प्रमोद के व्यंग्य ने उन्हें सोचने को बाध्य कर दिया था। कोई दूसरा होता तो तिलमिला उठता पर उन्हें अपने अन्दर एक ऐसे खोखलेपन का आभास हुआ जो उन्हें लज्जाजनक मालूम हुआ। उन्होंने अपने मन के अंदर गहरे उतर कर सोचा कि वास्तव में वे अपने देश, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपने साहित्य के विषय में क्या जानते हैं? एक भी शब्द? एक भी अक्षर? नहीं। बैरिस्टर ने महसूस किया कि वे कितने क्षुद्र हैं, कितने ढोंगी हैं! उनके मन ने ऊँचे उठ कर प्रश्न किया—"तुम्हें इस देशका निवासी कहलाने का क्या अधिकार?"

बैरिस्टर ने जोर की साँस ली और वे उठ खड़े हुए। बोले—"प्रमोद बाबू! आपसे मिल कर मुझे बेहद खुशी हुई। आप यहाँ आ जाइये, किसी चीज की फिक्र मत कीजिये। मैं........मैं......मैं.......।"

और ऐसा लगा जैसे उनका गला रुँध गया हो। उन्होंने प्रमोद का हाथ पकड़ा और अपने दोनों हाथों में दबा दिया—फिर तेजी के साथ बाहर चले गये।

प्रमोद पहले तो हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। फिर कृतज्ञता के भार से उस भूखे भिक्षुक की तरह झुक गया जिसके सामने रात के बारह बजे किसी ने थाली परोस कर रख दी हो।

× × × ×

भारतीय राजनीति में अत्यधिक तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे। सारा देश जंजीर में बँधे उस नरनाहर की तरह हुँकार भरता हुआ ऐंठ-ऐंठ कर करवटें बदल रहा था जिसके बदन में रह-रह कर बरछे चुभोये जाते रहे हों। युद्ध सुदूरपूर्व में एक भीषण धड़ाके के साथ बंद हो गया था और साथ ही ठीक उसके विपरीत समुद्री तट के एक विशाल नगर में लथ-पथ और थके-माँदे अप्रजातांत्रिक प्रजातंत्रवादी, एशिया के निरीह एवं निर्दोष बच्चों के खून से शांति का सुलहनामा एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र तैयार कर रहे थे। जिस समय उस घोषणा-पत्र पर भारत की ओर से एक ब्रिटिश गुलाम हस्ताक्षर कर रहा था, उस समय यहाँ के जन-प्रिय नेता जेलों में बंद थे—उन्हें प्रजातंत्र की मौत में, भरे हुए दिल से सम्मिलित होने तक की स्वतंत्रता नहीं थी। सारे देश में धूमधाम से विजय-दिवस मनाया जा रहा था, पर प्रत्येक भारतवासी संकेत से अपने पास खड़े हुए लोगों से पूछ रहा था—"किसकी विजय?"

जिस समय प्रमोद पटने आने की तैयारी कर रहा था, उस समय सभी कांग्रेसी नेता छोड़ दिये गये थे, शिमला-सम्मेलन प्रारम्भ हो चुका था। जिस समय वह धर्मशाला में बीमार पड़ा था, शिमला-सम्मेलन की विफलता घोषित हो चुकी थी और जिस दिन उसकी जेब में एक भी पैसा नहीं था, उसकी अँतड़ी दो दिनों से जलती रही थी, उसी दिन भारत में आम-चुनाव की घोषणा की गयी थी।

पर प्रमोद का जीवन इतनी तेजी से करवटें नहीं बदल रहा था! वह उस पुराने रोगी की तरह तकिये पर अपना सर इधर-उधर कर रहा था, जिसे वैसा करने में भी एक पीड़ा होती है—दर्द होता है। उसका सिर्फ सर ही करवटें ले रहा था, शेष शरीर ज्यों का त्यों पड़ा था। वह यह महसूस कर रहा था कि तेजी से चक्कर लगानेवाले सामूहिक जीवन की धुरी से वह अलग जा पड़ा है जिससे कि इस विघूर्णित गति का घर्घर नाद भी उसके कानों तक नहीं पहुँच रहा, पर अलक्ष्य रूप से वह उस विच्छिन्न

धरती की तरह घूम रहा था जो कि सूर्य से अलग जा पड़ने पर भी उसके गुरुत्वाकर्षण से कसकर बँधी हुई है। कभी-कभी वह यह भी सोचता कि जिसे वह तेजी से चक्कर लगानेवाला सामूहिक जीवन कहता है, कही वह सूरज की तरह स्थिर तो नहीं। और हो सकता है कि जिस अपने जीवन को वह स्थिर समझ रहा है, वह धरती की तरह अपने आप में घूम भी रहा हो और चक्कर भी मार रहा हो।

उस दिन जब वह तीन महीनों के बाद पहली बार अपने पिता को पत्र लिखने बैठा तो उसने अनुभव किया कि उसकी स्थिति में अवश्य ही कुछ परिवर्तन हो गया है। तभी तो अपनी जिस ढुलमुल स्थिति के कारण कल तक जो पिता के पास एक पत्र तक डालने का साहस नहीं कर सका वही आज पत्र के साथ अपना पता भी भेज रहा है और विश्वास के साथ यह आकांक्षा भी प्रकट कर रहा है कि उसे प्रत्युत्तर मिले। प्रमोद ने अपनी सुखद वर्तमान स्थिति का संक्षेप में परिचय दिया, बैरिस्टर साहब की प्रशंसा लिखी, अपने कार्य और अपनी पढ़ाई का जिक्र किया और तब अंत में एक विश्वास के साथ यह लिख मारा कि अब उसे कोई चिन्ता नहीं, वह जरूर ही निर्द्वन्द्व एम० ए० की पढ़ाई समाप्त कर लेगा। हलाँकि जब वह इस अंतिम वाक्य पर पूर्णविराम खींच रहा था, तभी उसके दिल में एक खटका हुआ था, उसका शंकालु मन मुस्कुरा उठा था, पर वह पूर्ण-विराम खींच चुका था और उसे आगे कुछ नहीं लिखना था।

अचानक वह रो पड़ा, उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। उसकी स्मृतियाँ तीखी होती गयीं, उसका विश्वास डोलता गया। तेजी से न जाने कितने पुराने चित्र उसके सामने आये और विलीन हो गये, कितने नये चित्र बने और मिट गये। पिता आये और ठहाका लगाते हुए अलग हो गये, अनु भाभी आयीं और रोती हुई खिसक गयीं, सुनन्दा आयी और बिलखती हुई सर झुकाकर चली गयी, गंगा का किनारा पहुँचा और ससरता हुआ दूर भागता गया, पर प्रमोद के कान एकाग्र हो बहते हुए

शव पर बैठे गीध के बड़े-बड़े पंखों की फरफराहट सुन रहे थे और उसकी सिक्त आँखों के आगे मसान का बल्ब दमक रहा था। वह न जाने कब तक उस फरफराहट को सुनता रहा—उस बल्ब को एकटक ताकता रहा। उसकी आँखों के आँसू सूख चुके थे। अब वह महसूस करने लगा था कि आँखों के कोर से लेकर अधरों के कोर तक की उसके चेहरे पर की चमड़ो, नाक की दोनों ओर दो पंक्तियों की सीध में सिकुड़ गयी है और जरा-सा तानने पर चटखने लगती है।

नीचे मोटर का हार्न बजा और वह सजग हो बैठा। उसकी नजर पुनः पत्र पर पड़ी। अंतिम विरामचिह्न पर आँसू की एक बूँद गिर कर पसर गयी थी और उसके साथ ही फैलती हुई स्याही के ऊपर-ऊपर पतले विराम की अस्पष्ट मोटी छाया थिर पड़ी थी।

× × × ×

ट्यूशन का काम, कुछ-कुछ उस गरीब-विधवा बुढ़िया के पेशे की तरह है जो कूट-पीस कर किसी तरह अपना पेट पालती है। जरूरत पड़ने पर वह घर की मालकिन के रोते हुए बच्चे को दुलरा भी देती है, चूल्हा भी सुलगा देती है, मालकिन के बीमार पड़ने पर उसके बदन में गर्म तेल मालिश कर देती है और फिर सत्तू से लेकर आटा तक तैयार कर देती है। उसे सभी कार्य विवश होकर ही करने पड़ते हैं, पर इस तरह कि मालकिन को उसकी झिझक का पता तक नहीं लगे। अंतर है तो सिर्फ इतना ही कि जहाँ बुढ़िया अनाज कूटती, छाँटती और पीसती है; ट्यूशन करनेवाला बुद्धि फींचता है। उसे वे सभी काम नये सिरे से शुरू करने पड़ते हैं, जिन्हें कि वह वर्षों पहले समाप्त कर चुका रहता है।

प्रमोद के सर पर भी इसी तरह धीरे-धीरे घर के कई काम थोप दिये गये। और प्रमोद, इसलिए कि विवश था; खीझ कर भी उन्हें पूरा कर दिया करता था। बैरिस्टर ने दूसरे ही दिन उसे लाइब्रेरी की कुंजी देते हुए कैटलोग ठीक करने, विषय-विभाजन कर पुस्तकों को करीने से सजा

देने एवं उन सभी पुस्तकों को मँगाने का हुक्म दे दिया जिनसे भारतीय संस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में उनका ज्ञान परिपक्व हो। जब कभी उन्हें किसी पुस्तक की जरूरत होती, प्रमोद को बुलाया जाता और प्रायः उसे कानूनी किताबों के उन परिच्छेदों को भी ढूँढ़ कर निकालना पड़ता, जिनकी तत्काल आवश्यकता रहती। ऐसे समय वह कुत्ते के कान की तरह पन्नों को मोड़ कर सामने टेबुल पर रख देता और फिर गैरेजों पर बनी अपनी कोठरी में आकर बैठ रहता। दिन में जब कभी जरा सबेरे वह कॉलेज से आ जाता; या रविवार रहता—शोभा उसके संस्कृत-ज्ञान का फायदा उठाती। वह आराम कुर्सी पर टाँगें छितरा कर आँखें मूँदे पड़ी रहती और प्रमोद गीता के श्लोकों के अर्थ, पौराणिक गाथाओं के मर्म बतलाता रहता जैसे कोई भैंस के आगे बीन बजाता रहा हो। उससे निश्चिन्त होकर जहाँ वह कोई किताब लेकर बैठने को होता कि आँधी की तरह विभा आ धमकती और 'ध्रुवस्वामिनी के चरित्र-चित्रण' 'शैली की पछुआ हवा' आदि लिख देने को कहती। रोज सुबह, आभा के साथ अलजेबरा के फैक्टरों, अंकगणित के हिसाबों से लेकर हुमायूँ की निधन-तिथि और सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूम जाने तक के पाठ दोहराने पड़ते। बीच में टेलीफोन की घंटी टनटना उठती तो बैरिस्टर साहब जोर से पुकार बैठते—'प्रमोद, जरा देखना तो।' सुबह-शाम सम्मिलित चाय-पान के समय उसे बैठना ही पड़ता और उस समय ऐसे-ऐसे प्रश्न छिड़ जाते कि कभी तो बैरिस्टर साहब प्रवचन देना शुरू करते और कभी प्रमोद लेक्चर झाड़ना प्रारम्भ कर देता।

प्रमोद ने सोचा था—दो-ढाई घंटे तक पढ़ाने के बाद बाकी समय वह खूब पढ़ेगा—बैरिस्टर साहब की सारी लाइब्रेरी चाट जायगा। रोमा रोलाँ की 'ज्याँ क्रिस्तफाँ' उसने शुरू की पर पाँच सौ पृष्ठों के बाद, हफ्तों पहले जो अपने कालेज की लाइब्रेरी के कार्ड का निशान लगाया था—सो उसे अभी तक वह फिर छू नहीं सका है। वह महसूस करता था कि इतने

सारे काम उसे करने पड़ रहे हैं पर अपने लिए वह क्या कर पा रहा है ? कूट-पीस कर गुजर करनेवाली उस बुढ़िया की तरह गुजारा ही तो ! इससे अधिक कुछ नहीं। उसने निश्चय किया कि अब वह अपने लिए अधिक से अधिक समय निकालेगा—देर रात तक अपना अध्ययन जारी रखेगा। अब वह सम्मिलित चाय-पान के ही समय विभा को टोक देता—"विभा आज तंग करने को कै प्रश्न सोच निकाले हैं ? और देखो, मेरे लिखे हुए को रट जाने से कोई विशेष लाभ नहीं; तुम स्वयं लिखो और मैं सही भर करता जाऊँ। इससे तुम्हारा विकास होगा, जो होना ही चाहिये !" बैरिस्टर साहब ने भी हाँ भर दी—"तो और क्या ? प्रमोद का लिखा घोक जाने से क्या फायदा ?"

चुस्कियाँ चलती रहतीं—प्रश्नोत्तर होते चलते। विभा पूछती—"प्रसाद के नाटकों के स्त्री-पात्र।"

और प्रमोद संक्षेप में अपनी मौलिक सूझ के अनुसार उत्तर देता चलता—"तुमने कई रूप-रंग के तो साबुन देखे ही होंगे—उजला, पीला, नीला—गोल, चौकोर, अण्डाकार। पर साबुन का रूप कुछ भी हो, रंग कुछ भी हो—फेन सब से एक ही तरह का निकलता है—सफेद। वह सनलाइट हो या लाइफब्वाय, लक्स हो या हमाम—आंतरिक रूप से सब में कुछ खास समान तत्व हैं। प्रसाद के सभी नारी पात्रों के बाह्य रूप-रंग में साधारण विभिन्नता भले ही हो, पर करुणा और वेदना का फेन सब में एक ही तरह व्याप्त है। वह देवसेना हो या कोमा, मालाविका हो या छलना, वासवी हो या ध्रुवस्वामिनी—सभी जैसे करुणा के एक महीन धागे से बँधी हुई हैं। हाँ, किसी में कुछ कम है—किसी में कुछ अधिक। और यह भेद उन पात्रों के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है—प्रसाद के नारी-पात्रों के नाम लेबुल के काम देते हैं।"

और इसी तरह वह चुस्कियाँ लेता जाता और बोलता जाता जैसे कोई प्रोफेसर क्लास में पढ़ा रहा हो—"रीतिकाल, साहित्यिक हिजड़ों की

उछल-कूद का जमाना था"—"गुप्त जी हिन्दी साहित्य के वरबैंक हैं"—"छायावाद, कर्मप्रिय गाँधीवाद का भावना-प्रिय सहोदर भ्राता है।" और ऐसे ही न जाने कितने प्रश्नों के अनोखे उत्तर।

बैरिस्टर साहब उसके इन कथनों को बड़े गौर से सुनते, उसके तर्कों और प्रमाणों से प्रभावित भी होते। चाय के बाद जब सब टेबुल छोड़ने लगते तो सभी यह अनुभव करते कि उन्हें प्रकाश की एक नयी किरण आज मिली है—उनकी बुद्धि पर अबुद्धि का पड़ा हुआ एक और छिलका आज उतर गया है। और प्रमोद चुप-चाप इस खुशी में अपनी कोठरी में आकर बैठ रहता कि—चलो, तीन-चार घंटों के लिए निश्चिंत होकर पढ़ने का मौका तो मिला।

शोभा श्लोकों और पौराणिक गाथाओं को सुनकर उसी तरह धीरे-धीरे पलकें मूँदने लगती जैसे कोई बच्चा लोरी सुनते-सुनते सो जाता है। प्रमोद ने यहाँ से भी अपना पिण्ड छुड़ाने की एक युक्ति सोच निकाली। एक दिन बड़ी आजिजी से उसने ठुनकते हुए कहा—"दीदी, तुम सुनती कहाँ हो—सो जाती हो!"

"नहीं रे, मैं सब सुनती हूँ।"

"देखो दीदी, जब तक तुम हूँ-हूँ कहोगी तब तक कहानी; और जब तुम हूँ-हूँ कहना बंद कर दोगी, कहानी समाप्त।"

और प्रमोद इसी तरह शोभा के उठते-गिरते भारी सीने को कुछ देर देखता रहता और फिर उठ कर चल दिया करता। शोभा की नींद भी टूट जाती तो मधुर निद्रा का आग्रह इतना प्रबल रहता कि वह फिर आँखें मूँद लेना ही अधिक अच्छा समझती।

पर आभा के साथ वह बहुत सचेष्ट था। कभी वह उसके साथ एक प्रिय भाई की तरह और कभी एक कठोर शिक्षक की तरद बर्ताव करता। आभा, कभी-कभी प्रमोद की मधुरता में विश्वास कर कोई पाठ पूरा नहीं करती तो वह कठोर शिक्षक का रूप ग्रहण कर लेता और ताबड़तोड़ चपत

जमा देता। फिर जब वह फफक कर रोने लगती और कापी पर दबो पेंसिल से जितने अक्षर लिखती उससे अधिक आँसू की बूँदो की तरल छाप उखाड़ने लगती तब वह उसे पुचकारता, थपकियाँ देता, अपनी धोती से आँसू पोंछ देता और उसके लाल-लाल गालो को चूम लेता। फिर वह उसे गुदगुदी लगाता और जब वह खिलखिला कर हँस उठती तो गाल पर एक हल्की चपत जमाता हुआ कुछ दूसरा विषय पढ़ाने लगता। अपने स्वर मे मिश्री घोल कर कहता—"बहन, पढ़ेगी तो तेरा ही फायदा होगा न।"

रात में वह खाने बैठता और यदि कभी रसोइये ने आकर यह कह दिया, "छोटी बीबी कहती हैं कि मैं अपना काम पूरा करके ही खाऊँगी", तो वह स्वयं उसकी कोठरी मे जाता, पीछे से आकर उसके दोनो गालों को थाम मुँह अपनी ओर कर लेता और फिर हँसते हुए अपनी बढ़ी हुई कड़ी दाढ़ी रगड़ देता। आभा, 'इस्-स्-स्.......' कर उठती और तमक कर फिर काम करने लगती। तब वह दिलासा देता, कल पाठ अधूरा रहने पर वह नहीं बिगड़ेगा और अपनी बाँह मे लपेट उसे नीचे पीढ़े पर लाकर बैठा देता।

ऐसे समय न जाने क्यो, वह महसूस करता कि यह बुजुर्ग बन गया है और आभा, या तो उसकी छोटी बहन है, नहीं तो बेटी-भतीजी या और कुछ इसी तरह की। उसके हृदय में उसके प्रति कोई कलुषित भावना नहीं उठती उस वक्त—महज स्वाभाविक स्नेह से वह ऐसा कर दिया करता था। जब वह उसे बहन कहता तो उसमे कोई कृत्रिमता नहीं रहती—परित्यक्त और पीड़ित हृदय का एक निश्छल आवेग मात्र ही रहता।

प्रमोद, रात में बहुत देर तक पढ़ा करता या लिखा करता। खाने-पीने के बाद कभी अपनी कोठरी में जाकर किवाड़ी बंद कर लेता और कभी नीचे लाइब्रेरी मे ही जम जाता। नींद आने लगती तो आँखों को रगड़ता, सिगरेट सुलगा लेता और टहल-टहल कर पढ़ता। कभी तबीयत

होती तो बाहर निकल जाता और बंगले के सामने के मैदान में चहलकदमी कर आता। फिर लेट कर पढ़ना शुरू करता और छाती पर पुस्तक रखे हुए ही न जाने कब सो जाता। ऐसे समय कभी-कभी उसे कई वर्ष पहले के नेपाली औरतवाले चित्र याद आते और तब उसके हृदय में एक मादक गुदगुदी उठती, उसे रोमांच हो आता। अनायास अस्फुट स्वर में वह गुनगुनाने लगता—"सुहानी रात ढल चुकी, न जाने तुम कब आओगे।" पर वह महसूस करता—उतनी अच्छी तरह नहीं गा सकता है वह।

तब वह कुर्सी पर बैठे ही बैठे अंतरस्थ होने लगता। पुस्तक ज्यों की त्यों खुली रहती और वह दूर भटकने लगता—अपने पापों पर खीझ उठता और मन ही मन रो देता—कितना पौरुषहीन हो गया है वह, इस तरह जीकर क्या करेगा। उठकर खड़ा हो जाता, सिगरेट सुलगा लेता और खिड़की के डण्टे पकड़ कर बाहर देखना शुरू करता। कभी घुप्प अंधकार और तारों की आँख-मिचौनी; कभी चाँदनी लुटाता हुआ चाँद और दौड़ते हुए छोटे-छोटे उजले बादल। कभी कोई मोटर तेजी से निकल जाती, कभी कोई एक्का खटर-खटर करता हुआ चला जाता। कुत्ते भूँकने लगते और भूंकते रहते, फिर आप ही आप चुप हो जाते। दूर रेल-गाड़ी की सीटी सुनायी देती जैसे किसी का गला चाँप दिया गया हो और एक भीषण चीख निकल पड़ी हो।

×　　×　　×　　×

बैरिस्टर साहब के बंगले के फाटक से कुछ हट कर, सड़क के ही किनारे धरती से लगभग तीन हाथ ऊपर, लकड़ी के चार-पाँच हाथ लम्बे और दो-ढाई हाथ चौड़े एक मचान की तरह, पान की एक छोटी-सी दुकान थी। उसमें बायीं ओर गैलरीनुमा खटालों में सोडावाटर और लेमनेड की भरी और खाली बोतलें पड़ी रहतीं और उसके पीछे पानी का घड़ा लाल-भींगे कपड़े से ढँका, कुछ टेढ़ा झुका रहता। दीवारों पर भी खटालें बनी हुई

थीं, जिनमें सबसे नीचे तम्बाकू पीने की बडी-बड़ी चिलमों से लेकर गाँजा पीने की छोटी-छोटी खूबसूरत चिलमें बेतरतीब रखी थीं। ऊपर पचीस-पचीस बीड़ियो के मुट्ठे सजे रहते और सबसे ऊपर लालटेन की चिमनियाँ तथा मोमबत्तियों के पैकेट पड़े रहते। बीच में बड़ा-सा एक स्वच्छ शीशा टँगा था जिस पर किनारे-किनारे सिनेमा की अभिनेत्रियों की रंगीन छोटी-छोटी तस्वीरें सटी थीं। शीशे के नीचे एक रेडियो रखा था जिस पर हमेशा एक नीला कपड़ा पड़ा रहता। सामने काठ का एक बड़ा-सा पीढ़ा रखा था जिस पर पीतल के चमकते हुए चदरे ठुँके थे। उस पर एक ओर पीतल की गमला-नुमा बाल्टी पड़ी रहती और उसमें मगही पान के छोटे-छोटे पीले पत्ते तैरते रहते। बीच में लगभग एक हाथ ऊँची, पान की ढोलियाँ लाल भींगे कपड़े के नीचे इस तरह सिकुड़ी रहतीं जैसे कोहवर में घूँघटवाली दुलहिन लाकर बिठा दी गयी हो। गर्मी के दिनों में उस पर गजरे और बेली को कलियों की मालाएँ जरा नीचे झुका कर रख दी जातीं। पीढ़े की दाहिनी ओर कुछ कटे-छँटे पान के पीले-हरे पत्ते, एक ओर छँटी-छँटायीं डटियाँ और ठीक नीचे चूना-सुपारी की बड़ी-बड़ी कटोरियाँ रखी रहतीं। कटोरियों के बीच मे कत्थे के लोटे पर एक ढक्कन पड़ा रहता, जिसके बीच से घोटने का रंगीन डण्टा नाव की मस्तूल की तरह दूर से ही दिखायी देता। पास ही मसाले की शीशियाँ और डब्बे—खुले-अधखुले पड़े रहते और उसके पीछे की खटालो में तरह-तरह की सस्ती मँहगी सिगरेटों के डब्बे और टीन, अपनी विदेशी सभ्यता की सारी गरिमा और आकर्षण लिये अलग सजे रहते।

और इधर ही दाहिनी ओर, मस्तमौला चतुरी पलथी मार कर बैठा करता; जिसे अपनी बायीं कानी आँख के लिए न तो कोई हीन-भाव था और न तो अपने चेचक-दाग-भरे चेहरे के लिए हृदय में कोई क्षोभ। प्रतिदिन, संध्या समय इमली और राख लेकर वह लोटों, कटोरियों और पीढ़े को चमचमा देता, फिर झाड़-पोंछ कर नहाता। साफ-धुले कपड़े

पहन, सर पर एक लाल मुरेठा बाँध लेता, गालों के नीचे मगही के बीड़े चाँप रखता और तब दनादन पान लगा कर सामने खड़े ग्राहकों को देता जाता। उसके दोनों हाथों की दसों उँगलियों और नखों पर कत्थई रंग के ऐसे दाग जमे थे जिससे मालूम होता कि चतुरी वर्षों से यही काम कर रहा है।

प्रमोद, चतुरी की ही दुकान में अपने लिए सिगरेट खरीदा करता और जब उसकी तबीयत ऊबी रहती या वह पढ़ते-पढ़ते थक जाता—तब वहीं बेंच पर बैठ जाता, बैठा रहता। आने-जानेवाले ग्राहकों को देखता या चुपचाप रेडियो से आती हुई आवाज, अन्यमनस्क हो सुनता रहता। ग्राहक आते, शीशे में मुख देख चेहरे पर रूमाल फेरते और फिर अपना प्रतिबिम्ब देखते हुए बीड़े चाँपते या धुआँ उगलते। कोई अपने बालों को ठीक करने लगता और कोई प्रतिबिम्ब देखने के बाद पुनः अपने को नीचे से ऊपर तक देखता। प्रमोद इन विविध मनुष्यों के विभिन्न कार्यकलापों को देखता रहता और कभी उसे हँसी आ जाती—कभी वह गंभीर बन जाता। धीरे-धीरे वह दुकान, उसके लिए एक प्रतीक बन गयी और वह सोचता—एक ओर विलायती सिगरेट, दूसरी ओर बीड़ी, बीच में शीशा, और ग्राहक अपना चेहरा देखता फिर सिगरेट से धुआँ उड़ाता ऐंठता हुआ चला जाता। जो जितना ही शिक्षित और सभ्य, वह उतना ही कृत्रिम; मानों कृत्रिमता का ही दूसरा पर्याय सभ्यता हो।

वह चतुरी को देखता, उसके निश्छल मनमौजीपन से उसे ईर्ष्या होती। चतुरी, जब हँसता तब ऐसा मालूम पड़ता कि कंदरा फोड़ कर कोई अबाध निर्झर निकल पड़ा हो—कहीं कोई कपट और विकृति नहीं। और तब वह अपने को देखता, जो वर्षों से हँसा नहीं है, और यदि हँसा है तो ऐसी हंसी, जो वेदना और पीड़ा के गुरु भार से झुकी रहती हो। चतुरी की ऐसी शुद्ध, निश्छल और निष्कपट हँसी, प्रमोद को याद नहीं आती कि इसके पहले भी उसने कहीं देखी है। उसने तो बस, नयनों के

कोरो की वैसी हँसी ही देखी है, जैसी कि दुर्भाग्य की आँखो मे तैरती रहती है—उसने अधरो के कोनो की वैसी हँसी ही देखी है, जैसी कि कुटिल व्यक्तियो के दो किनारेवाले दाँतो पर फिसलती रहती है। पर चतुरी का हास्य, उसे अत्यधिक स्वाभाविक और सहज मालूम पड़ता, जैसे वह पर्वत खिलखिला उठा हो, जिसके हृदय मे निर्मल सोते सोये पड़े रहते हैं—या कि शारदीया पूर्णिमा का वह आकाश बिहँस रहा हो जहाँ से चाँदनी की श्वेत, निष्कलुष दुग्ध-धारा प्रवाहित होती रहती है।

चतुरी की दुकान, दो दिना तक बंद रही और जब तीसरे दिन कॉलेज से आते समय प्रमोद ने उसे खुली देखा तो वह पूछ बैठा—"कहाँ थे दो दिनो तक चतुरी ?"

"यहीं तो था बाबू ! मेरी बीबी भाग गयी है न, जरा उसी हरामजादी की खोज-खबर ले रहा था।" इतना कह, वह वही निश्छल और सरल हँसी हँस पड़ा और सुपारी कतरने लगा।

प्रमोद अवाक् था, वह एकटक चतुरी का मुँह ताक रहा था—कहीं कोई पीड़ा, कहीं कोई अभाव, कही कोई वेदना नहीं। इस आदमी के पास हृदय है भी या नहीं ! प्रमोद सोचता—एक पर्वत, पछुआ हवा का एक झोका आया और उस पर के द्रुमदलो को छूता हुआ ऊपर चढ़ गया, फिर उस पार नीचे फिसल कर उतर गया। प्रमोद देखता—एक चट्टान, जिस पर इस ओर से उछलती हुई लहरें आती और उस ओर ढुलक कर नीचे गिर पड़तीं।

उसने पूछा—"पुलिस मे खबर नही की ?"

ब्रह्मा के कमंडल से जैसे गंगा झर गयी हो—चतुरी खलिखिला उठा, बोला—"हम पुलिस-उलिस को खबर नहीं करते बाबू ! हरामजादी, यह चौथी थी, चली गयी तो चली गयी; पाँचवी आ जायगी।" और फिर कत्थे के लोटे में डंटा चलाता हुआ, कुछ ठहर कर वह आगे बोला—

"............ और पाँचवी चली जायगी तो छठी आ जायगी।" और फिर वही पाठशाला में छुट्टी की घंटी बजने—जैसा मुक्त—उन्मुक्त हास।

प्रमोद को उस रोज तबीयत नहीं लगी। चाय पीकर वह बाहर निकल गया और सिगरेट फूँकता हुआ सड़कों पर डोलता रहा। वह क्या सोच रहा था, समझ नहीं पा रहा था—फिर भी सोचते जा रहा था। वह दूर निकल गया, अँधेरा हो चुका और जब चौक पर वह पहुँचा तो अगणित बल्बों से बाजार जगमगा उठा था। वह सर लटकाये जा रहा था, अचानक उसने देखा कि न जाने किस मोड़ से आकर ६-७ साल की एक बच्ची उसके आगे-आगे कब से चलती जा रही थी। उसकी दो छोटी-छोटी, पतली-पतली वेणियाँ सर की दोनों ओर झूल रही थीं और छोरों में लाल फीते बँधे थे। प्रमोद की इच्छा हुई, वह उन्हें जरा छू दे; फिर इच्छा हुई कि जरा सहला दे; और फिर अंत में न जाने किधर से मेढ़क की तरह उछल कर यह भाव आ गया कि दोनों वेणियों को पकड़ कर इस तरह झकझोरते हुए एक झटके के साथ पीछे खींच दे कि बच्ची, पिल्ले की तरह कें–ऽऽऽ कर उठे।

बच्ची बायीं ओर मुड़ गयी और प्रमोद एक क्षण तक के लिए उस जगह रुका और फिर नाक की सीध जाने लगा। वह सोचने लगा—ऐसी इच्छा क्यों जगी? यह किस अतृप्ति का परिणाम था, किस अभाव का तकाजा था? और फिर वह कौन-सा नियंत्रण था कि वह वैसा नहीं कर सका? सिर्फ छू ही देता तो क्या होता? वह बच्ची थी महज ६–७ साल की—छोटी और अबोध। कोई भी व्यक्ति उसका बुरा अर्थ नहीं लगाता। और वह भी एक बार उलट कर देख लेती, बहुत होता तो रंज हो जाती।............ वह उसका चेहरा भी न देख सका।

प्रमोद, मनोविज्ञान की जितनी भी बातें जानता था, सब की तह में प्रविष्ट होता गया। उसने महसूस किया, गुलाब देख कर उसे तोड़ कर सूँघने या हाथ में लिये रखने की अपेक्षा उसे मसल कर फेंक देने की ही

अधिक उत्कट आकांक्षा उसके हृदय में रहती है।..............असमय मरा हुआ यौवन, नशा आने के पहले ही बेहोश हो जाने की-सी स्थिति........ यही इसके कारण हो सकते हैं, हैं भी। और तब प्रमोद फिर और अधिक सिमटता जाता—आभा के गालो को छूने, उसके आँसू पोंछ देने और फिर चूम लेने के पीछे भी तो यही नहीं है? प्रमोद को याद आता, वहाँ भी बाद चल कर उसकी आकांक्षा होती है कि काश, वह अपना बायाँ पंजा आभा की कमर और दाहिना पंजा उसकी गरदन पर कस कर इस तरह मरोड़ पाता जिस तरह कोई कच्ची मिट्टी की मूर्ति उमेठ कर तोड़ देता है। वह अपना विश्लेषण करना शुरू करता—हाँ, उसे स्फुरण होता है; गालों को छू और चूम लेने के बाद जैसे वह अपने मे किसी शक्ति का सचार पाता है, अनुभव करता है कि जैसे उसका खून तेजी से दौड़ने लगा है। ....पर? पर वह मरा हुआ यौवन ही शायद उसे मरोड़ देने को ललकारता रहता है। और वह विभा? उसके कोठरी में आने या लाइब्रेरी में कभी-कभी आमने-सामने पढ़ते रहने पर वह मन ही मन पहले खुश क्यों हो उठता है, कोठरी से जाने के समय और उससे बाहर नहीं हो जाने तक उसकी एड़ियों को देखते रहने और दूर तक चट्टियों की घिसघिसाहट पर कान लगाये रखने के बाद एक खीझ से मुँह बिचका कर वह सिगरेट क्यों सुलगा लिया करता है।

प्रमोद को खयाल ही नहीं रहा कि इस प्रकार वह कब अपने निवास-स्थान के फाटक पर पहुँचा और फिर भीतर पहुँच गया। पर अचानक रणजीत ने तपाक् से आकर जब उसका हाथ 'गुडइवनिंग गुडइवनिंग प्रमोद' कहते हुए कसकर झकझोर दिया तब उसने कोई जवाब देने के पहले चारों ओर देखा, पाया कि दाहिनी ओर विभा खड़ी-खड़ी मुस्कुरा रही थी और तब वह चौंक उठा। अच्छा, तो वह पहुँच गया है।

उसने दोनों होठों को इस तरह फैला दिया कि वे एक दूसरे से

अलग नहीं हो सके। फिर पूछा—"तुम आये कब?" और रणजीत के बायें कन्धे पर हाथ रखता हुआ वह उस ओर चलता रहा, जिधर गैरेजों के ऊपर उसकी कोठरी थी। जब कोठरी में सभी पहुँच चुके और बल्ब के प्रकाश में बैठ रहे, तब अचानक एक अंगड़ाई लेते हुए प्रमोद बोला—"आह! इस समय कोई चाय पिला देता तो उसे कुछ बढ़िया आशीर्वाद देता।" उसने गर्दन पीछे लटका दी।

रणजीत और विभा—दोनों होठों में ही मुस्कुराये। रणजीत बोला,—"कौन-सा बढ़िया आशीर्वाद दोगे?"

"भगवान उसे सात बेटियाँ दे!" प्रमोद ने उत्तर दिया और तीनों खिलखिलाकर हँस पड़े। विभा, रणजीत की जाँघ में ठोंगा मार कर हँसती हुई उठी फिर बाहर निकल गयी। तत्क्षण प्रमोद ने सोचा, व्यंग्य तो बड़ा गहरा था, उसे ऐसा मुँह से भी नहीं निकालना चाहिये—और वह ठीक से बैठ कर गंभीर बन गया। रणजीत ने पूछा—'अरे चुप क्यों हो गये? क्या सोचने लगे?"

"कुछ नहीं-कुछ नहीं"—उसने कुत्ते की तरह अपना माथा झकझोर दिया,—"बहुत थक गया हूँ यार!...............खूब घूमा।" और तब वह कुछ क्षण खोया-सा रहा, फिर बोला—"एक ऐसी घटना घटी कि तुम सुनोगे तो खूब हँसोगे।" उसने सड़क पर की लड़की, उसकी वेणियों के डोलने आदि से लेकर वहाँ तक की अपनी प्रतिक्रियाएँ सुना दीं, जहाँ तक कि उसे छिपाना नहीं चाहिये था। सुन कर रणजीत जोर से हँसा। प्रमोद के यह पूछने पर कि वह हँसा क्यों, वह बोला—

"प्रमोद, तुम गुण्डा हो!"

"अंधा, दुनिया को अंधा बताता है।"

और फिर दोनों हाथ मिलाते हुए जोर से हँस पड़े।

प्रमोद, फिर गंभीर बन गया। विभा आयी, चाय ढाल कर उसने सब के सामने प्यालियाँ रख दीं और प्रमोद कब चम्मच चलाने लगा,

यह वह जान तक नहीं पाया। रणजीत समझ रहा था—आज फिर उसके सर में ज्ञान-विज्ञान का दौरा आया है।

रणजीत को चुप्पी खल रही थी, आज वह बहुत सुनना चाह रहा था। बोला,—"प्रमोद, तुम पूरे मनहूस हो।" प्रमोद ने चम्मच चलाना छोड़ दिया—"क्यो?"

"तुम्हारे विचार, तुम्हारे वितर्क—सभी बेहूदे हैं और निष्कर्ष ऐसा कि ग्रहण करने के पूर्व तो एक बार कोई भी चिहुँक उठे।"

प्रमोद ने धीरे एक चुस्की ली—इस तरह जैसे अमृत पी रहा हो। सर उठा कर बोला—"तुम मनहूस किसे कहते हो?"

रणजीत ने जार्ज इलियट से वह उद्धरण कहा—A cynic is one, who knows price of **every** thing **but** the Value of nothing."

"राइट!" प्रमोद बोला,—"उसी को हम सांसारी कहेंगे—जो संसार में रह कर दाम ही को सोचता है, मूल्य को नहीं।" उसने एक चुस्की और ली,—"मनहूस, उस दुकानदार की तरह है जो दिन भर पैरों के पास रख कर लोहे के बटखरों की पूजा करता है और रात भर मस्तक से सटा कर पत्थर के भगवान् की आराधना करता है। वह जानता है, दिन में बटखरे को मस्तक से लगाने का अर्थ है सांसारिक मौत और रात में पत्थर को पैरों के पास रखने से कहीं यह न हो जाय कि लोग कमर में खुँसी छुरी देख लें।.........वह जीवन के लिए छुरी को आवश्यक समझता है। और निष्कर्ष तो चौंकाने वाला होना ही चाहिये। सत्य तो कल्पना से अधिक विचित्र हुआ ही करता है।"

रणजीत चौंका नहीं—एक उपहास के स्वर में बोला—"इससे दुकानदार का क्या फायदा?"

"सांसारिक सत्य, भौतिक सत्य की प्राप्ति। वह पैकार है, वह अपना बटखरा और पैसा जानता है। वह इसे जानना आवश्यक नहीं समझता

कि अमुक बूटी से किसी भूत-प्रेत का मंत्र-पाठ किया जायगा, या किसी अनुचित प्रेम का गर्भपात होगा।" उसने एक चुस्की ली और सिगरेट का एक कश भी लिया, फिर जैसे कि उसी क्रम में वह बोला—"दुनिया चौंकती है तो अपने अज्ञान का परिचय देती है। सत्य तो, आकस्मिक रूप से एक बिजली की तरह अचानक चमकता हुआ आयगा ही। अचानक, इस तरह आयगा कि आप उसकी उपस्थिति से अपरिचित न रह सकें। फिर भूत के अंधकार में समा जायगा, उस पर प्राचीनता की जंग चढ़ती जायगी।" रणजीत किंचित् मुस्कुराते हुए बोला—"कहीं उस गड़ेरिये की हालत न हो जाय जो रोज 'भेड़िया आया-भेड़िया आया' कह कर लोगों को चौंका दिया करता था और एक दिन भेड़ों के साथ-साथ आप चपेट में आ गया।

रणजीत रूमाल से मुँह पोंछ रहा था। प्रमोद ने एक लंबा कश खींचा और उसी तेजी से धुआँ छोड़ दिया। खाली तश्तरी में राख झाड़ते हुए उसने उत्तर दिया—"गड़ेरिये को मरने के समय भी यह संतोष तो रहेगा ही कि उसने शोर किया था।.........और लोग, दूसरे रोज सुबह सत्य को अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष देख कर, पहले से भी अधिक चौंक उठेंगे।

× × ×

मई का महीना था, भीषण गर्मी पड़ रही थी। पटने की वह भीतर ही भीतर सिझा देनेवाली गर्मी जिससे तब तक त्राण नहीं मिल सकता, जब तक कि आकाश दिल खोल कर बरस न जाय। कर्क रेखा की ओर तेजी से बढ़ता हुआ सूरज, सुबह से शाम तक आग उगलता रहता और रात में भी कुछ दक्षिण की ओर झुका हुआ चाँद बस उतनी ही मात्रा में शीतलता टपकाता कि वह बीच में ही सूख जाय। सारा पटना बिहार की नायिका की-सी स्थिति में तड़प रहा था—घुल रहा था।

आभा की मैट्रिक परीक्षा समाप्त हो गयी थी और वह पिताजी के साथ मंसूरी चली गयी थी। शोभा भी मंसूरी मे ही रहने के खयाल से साथ गयी थी पर बाद में एक पत्र से यह सूचना मिली कि वह बनारस चली आयी जहाँ अपने किसी सम्बन्धी के साथ रहती थी और सुबह-शाम दशाश्वमेध में स्नान कर विश्वनाथ का दर्शन करती थी। यहाँ शोभा का स्थान बैरिस्टर साहब के घर के पुराने और बूढ़े नौकर पलटू ने ले लिया था और प्रोफेसर साहब अभिभावक के रूप मे बराबर खैर-खबर रखते थे। प्रमोद में उनका ऐसा विश्वास जमा था कि वे एक तरह से निश्चिन्त ही थे।

प्रमोद और विभा, अपनी-अपनी वार्षिक परीक्षाओं की तैयारी कर रहे थे और ऐसा आदेश मिला था कि गर्मी छुट्टी के लिए कॉलेज बंद होने पर दोनो ही मंसूरी चले आयँ। प्रोफेसर साहब भी रम्भा के साथ, कॉलेज बंद होते ही मंसूरी जाने का निश्चय कर चुके थे। तैयारी जोरों से चल रही थी, रणजीत भी नियमित रूप से शामिल हुआ करता था—और इस तरह वह एक ढेले से दो शिकार कर रहा था।

बेहद गर्मी थी। दस बजे सुबह से लेकर पाँच बजे संध्या तक सड़क पर निकल जाना मुश्किल दीख पड़ता और फिर उसके बाद घर में रहना—एक घुटन-सी स्थिति पैदा करता। प्रमोद, विभा और रणजीत, चारों ओर से कोठरी बंद कर बैरिस्टर साहब की लाइब्रेरी मे ही पढ़ा करते। बल्ब जलता रहता, बिजली का पंखा नाचता रहता और दरवाजों तथा खिड़कियो पर लगी खस की टट्टियों पर रह-रह कर पानी का छिड़काव चलता रहता। कॉलेज से लोग सबेरे ही आ जाते, चाय-शर्बत के बाद पढ़ाई शुरू होती; १२ बजे खाना होता और फिर लोग जम जाते। रणजीत, पढ़ते-पढ़ते उधर आरामकुर्सी पर पसर जाता; विभा या तो टेबुल पर ही सर रखे-रखे सो जाती, नहीं तो अंगड़ाइयाँ और हाफियाँ गिनती हुई किसी दूसरी कोठरी में चली जाती। पर, प्रमोद पैर

झुला-झुला कर पढ़ता रहता, नहीं तो सिगरेट फूँकता-फूँकता लिखता रहता। यही समय था जब वह जरा एकांत का अनुभव करता था और निश्चिन्त होकर कुछ गंभीरता से किसी प्रश्न पर सोचा करता था।

लगभग तीन बजे रणजीत उठता—किसी न किसी बहाने से विभा की कोठरी में जाता और फिर दोनों साथ लौटते। पलटू, प्रमोद के लिए चाय और उन दोनों के लिए शर्बत तैयार कर लाता और फिर पढ़ाई चलती। शाम को सभी साथ टहलने निकल जाते और फिर लौट कर उसी कोठरी में पढ़ा करते। रात में अध्ययन के समय रणजीत प्रायः ही रहता।

रविवार का दिन था—प्रमोद और विभा ओसारे पर जलपान कर रहे थे। प्रमोद ने कहा—"यह पटना शहर भी अजीब है। मेरा तो खयाल है कि जिस इंजीनियर ने इसकी योजना तैयार की होगी—वह परले सिरे का अफीमची होगा नहीं तो बुद्धू।"

"क्यों?"—विभा ने होठ पर का पसीना पोंछते हुए पूछा।

"देखो न। यह शहर एकदम लंबा है, और चौड़ा इतना कम कि यदि मेरे देहात का कोई आदमी यहाँ पहुँच जाय तो इस पार मैदान करे और उस पार हाथ मटियावे। मूर्ख इंजीनियर ने यह भी नहीं सोचा कि गर्मी में या तो पुरवा हवा बहती है, नहीं तो पछिया और शहर के सारे मकान या तो उत्तर मुँह के हैं, नहीं तो दक्खिन मुँह के। नतीजा यह है कि पटना के सभी घरों के बैठके गर्मी में अधिक गर्म और जाड़े में अधिक ठंढे रहते हैं पर सभी पैखाने गर्मी में ठंढे और जाड़े में गर्म रहा करते हैं। तुम अभी जाकर देखो, पैखाने में ठंढी हवा बह रही है और यहाँ पसीना छूट रहा है।"

बूढे पलटू ने समर्थन किया—"हाँ बिटिया, प्रमोद बाबू ठीक ही कहते हैं। पटने में आँधी भी आती है तो सड़क पर दौड़ती हुई

निकल जाती है पर घरो में अलगनी पर सूखनेवाली धोती जरा भी नहीं फरफराती।

विभा सोच रही थी—बात बहुत अंशो में ठीक है, कि सायकिल की घंटी बजी और रणजीत सीटी बजाता दाखिल हुआ। प्रमोद ने कहा—"आओ-आओ रणजीत, तुम्हारा ही इंतजार था।"

रणजीत ने अपने पेट को हसोसते हुए उत्तर दिया—"न भाई, आज तो अपने राम घर से ही खूब डट कर चले है।" और उसने एक कृत्रिम डकार लिया।

प्रमोद ने कहा—"अरे, एक प्याली चाय ही सही।"

"धुत्त ! तुमको तो जब देखो, तब चाय ! सुबह भी चाय, दोपहर भी चाय, शाम भी चाय। जाड़ा हो या गर्मी—बस इनको एक प्याली गर्म चाय ही चाहिये।" प्रमोद हॅसा—"यह बीसवीं सदी का सोमरस है रणजीत, सोमरस ! यह आज के देवताओ का एकमात्र पेय पदार्थ है।"

रणजीत ने प्रमोद की लाक्षणिकता पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। अपने निचले होठ के नीचे उँगली गड़ा, फिर नट की तरह इधर-उधर ऑखे घुमा, एक सतोष का भाव प्रकट किया—"चाय तो नहीं; हॉ—यह संतरे का रस कहो तो एक गिलास चढ़ा जाऊँ।" और कहते हुए उसने विभा के लिए रखा गिलास ट्रे पर से उठा लिया।

विभा, प्रमोद के लिए चाय ढाल रही थी। जब तक तेजी से बरतन रख, वह दोनो हाथो से अपना गिलास पकड़ने को उठी, तब तक रणजीत उसे अपने होठों से लगा कर जल्दी-जल्दी एक घूँट ले चुका था। विभा के इस असफल प्रयास पर सभी हँस पड़े। रणजीत ने जूठा गिलास बढ़ाते हुए कहा—"रंज हो गयी, लो तुम्हीं पी लो।"

विभा ने खीझ के स्वर मे कहा—"मैं किसी का जूठा नहीं पीती।"

"अरे पी लो, पी लो—बड़ी मुश्किल से ऐसा सौभाग्य मिलता है। तर जाओगी, समझी।"

"ऊँह! तर जाओगी"—विभा ने शब्दों को चबाते हुए कहा—"जैसे भगवान का चरणामृत हो।"

"पत्थर के देवता का चरणामृत नहीं, प्रेम के देवता का अधरामृत ही समझो।"—यह कह रणजीत ने फिर दो घूट लिये।—"खैर! कोई बात नहीं, तुम आज चाय ही पीलो फिर।"

विभा ने एक प्रेमपूर्ण नखरे के साथ सर डुलाते हुए उत्तर दिया—"मैं गर्मी में सुबह-सुबह चाय नहीं पीती।"

रणजीत ने जीभ से ऐसी आवाज की जैसे वह किसी पिल्ले को पुचकार रहा हो—"च्-च्-च्, गरम चाय गर्मी में ठंडी और जाड़े में हुआ करती है। पेट को एकदम वर्फ रखेगी—दिमाग को तर।" और विभा की ओर मुस्कुराते हुए जरा ठहर कर फिर कहा—"अपने गुरु से पूछ लो न। हमें क्यों घूरती हो?"

विभा लजा गयी, बोली—"तुम्हारे भी तो गुरु हैं, दिन-रात तो पूछते ही रहते हो—यह कैसे होगा प्रमोद, वह कैसे होगा प्रमोद।" उसने अपना मुँह बिचका दिया। "नहीं-नहीं महारानी।" रणजीत ने विभा का गाल पकड़ जरा झुलाते हुए कहा—"प्रमोद मेरा गुरु नहीं, चेला है चेला। पूछता तो इसलिए हूँ कि देखूँ उसे याद है या नहीं।"

तीनों फिर खिलखिला कर हँस पड़े। पलटू भी कंधे पर अँगोछा रखते हुए मुस्कुरा उठा। प्रमोद ने अपने दोनों हाथों को जोर से जोड़ते हुए कहा—"दण्डवत् महाराज!"

सभी और जोर से खिलखिला उठे।

वातावरण में अब वह उच्छृङ्खलता नहीं थी, कुछ गंभीरता आ गयी थी। सिर्फ चाय और शर्बत पीने की आवाज हो रही थी। ऐसा लगता था जैसे सब, कुछ सोचने लगे हैं। अपना गिलास रखते हुए

रणजीत ने मौन तोड़ा—"प्रमोद, वास्तव में तुम्हें चाय से इतना प्रेम है ? क्या वह तुम्हें बहुत अच्छी लगती है ?"

प्रमोद किसी दूसरे विषय पर सोच रहा था, अनायास कोई उत्तर नहीं दे पाया। कुछ देर सोच कर जरा मुस्कुराता हुआ बोला—"जिस वर्ग का मैं हूँ, आजकल उस वर्ग की प्रतिष्ठा इसी चाय के हाथों है रणजीत! यदि चाय न रहती तो बेचारा मध्यवर्ग का आदमी पग-पग पर आज बेइज्जत होता रहता।"

कुछ क्षणों तक फिर चुप्पी रही, प्रमोद ने व्याख्या प्रस्तुत की—"तुमने सुना है न, चाय की प्याली में तूफान। आज का मध्यवर्ग यही चाय की प्याली का तूफान है। दूध और चीनी, गर्म और तीखापन—पर जैसा कि तुमने कहा तासीर एकदम ठण्ढा।"

और वह धीरे मुस्कुरा पड़ा। डिब्बा निकाल कर उसने सिगरेट मुँह में थाम ली और फिर रणजीत की ओर उसे फेंकते हुए सुलगा ली। धुआँ का गुब्बारा छोड़ते हुए कहा—"जानते हो रणजीत, मैं अपने लिए कैसा आदर्श जीवन चाहता हूँ! चारों ओर अच्छी-अच्छी किताबें सजी हों, एक कोने में पड़े रेडियो से संगीत का मधुर स्वर धीरे-धीरे निकलता रहे और बीच में आरामकुर्सी पर बैठा हुआ मैं, पढ़ता रहूँ—लिखता रहूँ—सिगरेट सोंटता रहूँ—चाय पीता रहूँ। बस, मुझे कुछ और नहीं चाहिये।"

"मैं भी यही चाहता हूँ"—रणजीत बोला—"पर एक छोटे-से संशोधन के साथ।" प्रमोद जैसे उस संशोधन को जानता रहा हो, कुछ नहीं बोला। विभा बोल उठी—"वह क्या ?"

रणजीत बहुत गंभीर बन गया—"यही कि··········",—वह रुका और जैसे कि अच्छे-अच्छे विशेषण चुन-चुन कर सम्हाल-सम्हाल रख रहा हो—"उस चाय में किसी कोमलांगी के सुकुमार हाथों में पड़ी सुन्दर-

सुन्दर चूरियों की प्यार-भरी खनखनाहट भी मिली हो। बस, और कुछ नहीं।"

विभा इस तरह हँस पड़ी कि उसकी आँखों में पानी आ गया, रणजीत एक अदा के साथ हाथ झाड़ कर मुस्कुराता रहा, और प्रमोद के होठों के सिर्फ कोने ही फैल कर रह गये, उसने पलकें झुका लीं।

एक दिन विभा के सर में हल्का-हल्का दर्द था और वह शोभा की कोनेवाली कोठरी में पड़ी थी। प्रमोद को किसी प्रसंग के लिए एक पुस्तक की जरूरत हुई जो विभा के पास थी। वह वहाँ गया तो दरवाजे पर ही ठिठक गया—"अरे रणजीत, तुम कब आये?" विभा सम्हल कर बैठ गयी, रणजीत पलंग से कुर्सी पर उतर आया। किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया पर सभी होठों में ही जैसे मुस्कुरा उठे।

"खैर, कैसी तबीयत है विभा?" और वह पुस्तक लेकर अपनी कोठरी में चला आया।

प्रमोद ने सिगरेट सुलगा ली और आराम कुर्सी पर लेटकर पन्ने उलटाने लगा। कई पन्नों के बाद एक छोटा-सा पत्र उसमें पड़ा मिला—रम्भा ने विभा को लगभग एक मास पूर्व लिखा था। प्रमोद एक सांस में पढ़ गया—"विभा, परसो जब तुमने मुझे अपना वह गुपचुप संवाद सुनाया तो सहसा मैं कुछ कह नहीं पायी। मुझे अवाक् रह जाना पड़ा। आज दो दिनों से मैं तुम्हारे उस निर्णय पर विचार कर रही हूँ और अंत में मैंने जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है कि तुम भारी गलती करने जा रही हो। मैं रणजीत के रोम-रोम से परिचित हूँ और उसने मुझसे भी कभी वे ही वादे किये थे जो आज तुम्हारे साथ किये जा रहे हैं। खैर, अधिक मैं तुमसे क्या कहूँ, पर इतना जरूर कहूँगी कि वादा पूरा होने के पहले फिसल मत जाना। उसका स्नेह दूसरो के लिए बड़ा चिकना है, उसके लिए नहीं। तुम अपनी नाक कटवा लोगी और उसका मनोरंजन होगा। प्रेम ही करना है पगली, तो तुम्हारे घर में एक हीरा आ पहुँचा

है—उसे ही गाँठ में बाँध ले। रणजीत में सिर्फ वासना है, प्रमोद में धैर्य।—तुम्हारी रंभा।"

प्रमोद पत्र पढ़ चुका तो उसने पाया कि उसका भी सर दुखने लगा है। तो, यह गुपचुप प्रेम चल रहा है महीनों से। रणजीत, प्रमोद के पास नहीं, विभा के यहाँ आता है—वह तो एक टट्टी है, जिसकी आड़ से शिकार हो रहा है। साथ पढ़ना-लिखना—एक बहाना मात्र है। उसकी इच्छा हुई कि वह बैरिस्टर साहब को पत्र लिख कर इसकी सूचना दे दे। पर फिर उसने सोचा—उसके लिए ऐसा करना ठीक नहीं होगा, अनजान बना रहना ही बेहतर है। और अंत में सिगरेट फेंकते हुए उसने निष्कर्ष निकाला—"छोड़ो, कोई कुछ करे, अपने राम को क्या!"

उसने पढ़ना शुरू ही किया था कि रणजीत आ धमका। प्रमोद की ठुड्डी ऊपर उठाते हुए बोला—"बिगड़ गये हो हमसे भैय्या?" प्रमोद मुस्कुरा उठा। रणजीत कुर्सी खींच कर पास बैठ रहा और अनुकूल रुख पाकर उसने सारी बातें खोल दी—"मैं विभा से प्रेम करता हूँ प्रमोद! तुम कुछ बुरा न समझना, मैंने तय कर लिया है—बी० ए० पास करने के बाद ही उससे विवाह कर लूँगा।"

प्रमोद चुप रहा। उसने फिर एक सिगरेट मुँह में लगा ली, रणजीत ने सलाई जलाकर उसे सुलगा दिया।—"रणजीत, एक बात पूछूँ; सच-सच बताओगे?"

"तुमसे मैंने आज तक कुछ छिपाया है जो फिर छिपाऊँगा!"

"यह तो आज की घटना से ही पता लगता है कि तुम मुझसे छिपाये हो। महीनों से हजरत मुहब्बत फरमा रहे हैं और आज जब पकड़ाये तो खुले।"

रणजीत अपराधी की तरह खिसियाई हुई हँसी हँसा—"यह तो······ यह तो···········।"

"तुमने इसके पहले भी किसी से प्रेम किया है?" प्रमोद ने घूरते हुए प्रश्न किया।

सच कहता हूँ भैय्या! प्रेम किसी से किया नहीं, हाँ खेल जरूर खेलता रहा हूँ। कई लड़कियाँ आयीं और नाचकर चली गयीं, मैं उन्हें नचाता रहा और सिर्फ नाचने के लिए नाचता रहा।"

"इसके पहले भी तुमने किसी से विवाह के वादे किये थे?" 'प्रमोद की आकृति गंभीर थी। रणजीत हिचका, फिर बोला—"सिर्फ एक से। वह जो प्रोफेसर की बेटी रंभा है न, उसीसे—और सच कहता हूँ प्रमोद—उस वादे में सिनसियरिटी नहीं थी। उस वादे के बिना मैं उसके साथ नाच नहीं सकता था और इसी से वे वादे कर गया था।"

प्रमोद के चेहरे का तनाव ढीला पड़ गया। उसे संतोष ही नहीं, रणजीत की सचाई पर विश्वास भी जमा। वह धुआँ उगलने लगा था और रणजीत उसकी प्रतिक्रिया जानने को एकटक उसका मुँह ताक रहा था।

प्रमोद ने राख झाड़ते हुए कहा—"रणजीत, तुम मुझसे बड़े हो—अधिक अनुभवी भी हो, मैं तुम्हें क्या कहूँ। पर एक बात बता देता हूँ और वह यह कि प्रेम, जब मोम की तरह कोमल होता है तब उसे वासना कहते हैं और जब पत्थर की तरह कठोर बन जाता है तब उपासना। प्रेम की परिपक्वता उसके कठोर बनने में है, कोमल बनने में नहीं।----------- प्रेम में गल जानेवाला आवारा कहलाता है और तपनेवाला भक्त।"

वातावरण एकदम गंभीर बन गया था, यहाँ तक कि दोनों एक दूसरे की साँस लेने तक की आवाज सुन रहे थे। प्रमोद ने कहा—"रणजीत, तपो, कठोर बनो। देवी से दूर होकर तड़पो और जिस दिन तुम्हारा हृदय रोते-रोते हँस दे, उस दिन देवी का हाथ पकड़ो।" प्रमोद अचानक चुप हो गया और रणजीत की आँखें छलछला आयीं। वह टेबुल पर माथा टिका जमीन की ओर अपलक ताक रहा था।

प्रमोदने सलाई की तिल्ली से किताब पर लकीरें खींचते हुए कहा—"मैं विभा का कोई नहीं होता, मुझे कोई अधिकार नहीं कि मैं विभा के विषय में कुछ भी सोचूँ। पर तुम्हारे विषय में सोचता हूँ और इसलिए रणजीत, तुम विभा से जितनी ही दूर रहो, मैं तुम्हारी उतनी ही सहायता कर सकूँगा। मुझ पर विश्वास रखो।"

रणजीत ने सर उठाया, उसकी आँखों में आँसू थे—"प्रमोद, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं?"

प्रमोद होठों में मुस्कुराया—"तुमने गलत समझा रणजीत। मुझे तुम पर पूरा विश्वास है पर तुम्हारी देवी पर नहीं। समझे।"

रणजीत अकचकाया और उसने लंबी साँस छोड़ी—"ऐसी बात है? तो लो, अब जब तुम कहोगे, तभी आऊँगा।"

प्रमोद ने मुस्कुराकर रणजीत के कंधे पर हाथ फेरा—"तुम्हें मुझ पर विश्वास तो है?" रणजीत बोला नहीं, उसने सर डुला दिया।

   

विभा, प्रमोद की ओर झुकती जा रही थी। वह महसूस करता था—विभा, उसका सामीप्य चाहती है। दूसरे दिन संध्या समय वह जब उसकी कोठरी होकर गुजर रहा था तब विभा ने पुकारा—"सुनिये तो।" प्रमोद कोठरी में पहुँचा तो वह पलँग पर ही कुछ खिसक गयी—"जरा बैठिये न।" वह सामने कुर्सी पर बैठ रहा, पलँग पर उसके पैर टिके थे। वह सशंक था। कुछ देर बाद उसने आँखें उठायीं तो देखा—विभा उसकी ओर एकटक ताक रही थी। अचानक दोनों की नजर टकरायी और दोनों ने

ही एक साथ पलकें झुका लीं। प्रमोद ने जब फिर आँखें उठायीं तो और भी जल्दी गिरा लीं। विभा पहले की ही तरह उसे अपलक निहार रही थी। उसकी नजर जैसे फिसलती हुई प्रमोद के चेहरे से आकर पलँग पर टिके उसके पैरों पर अटकी। दोनों चुप रहे, प्रमोद रह-रह कर देखता रहा—विभा अभी तक उसके पैरों को ही निहार रही थी। उसे लगा जैसे उसके तलवों में गुदगुदी अब उठी—तब उठी। वह अपने पैरों को डुलाने लगा—डुलाता रहा। विभा जैसे नींद की सी स्थिति में मुस्कुरायी।

"मैंने कहा—आज सिनेमा चलियेगा? तबीयत नहीं लगती, लगता है जैसे सारी देह टूट जायगी।" और विभा ने कस कर अँगड़ाई ली, उँगलियाँ चटखायीं। प्रमोद न तो 'ना' कर सका और न 'हाँ'। "मौनं सम्मति लक्षणं" कहती हुई विभा पलँग से नीचे उतरी और प्रमोद के बालों में उँगलियाँ डाल गुदगुदाती हुई बाहर निकल नौकर को पुकारने लगी।

सिनेमा चल रहा था, पर प्रमोद न जाने क्यों आज किसी अप्रत्याशित घटना के लिए अपने को तैयार कर रहा था। वह दनादन सिगरेट फूँकता जा रहा था और सामने पर्दे पर जो तस्वीरें आ-जा रही थीं, उनसे सर्वथा भिन्न तस्वीरें उसकी आँखों के सामने गुजर रही थीं। अचानक उसने महसूस किया—उसके दाहिने कंधे से किसी का सर सटा। वह चौंका, जैसे साँप छू गया हो। सर सटा, कुछ और आगे सटता हुआ सरका, और फिर उसे लगा जैसे उसकी छाती से चिपक गया। वह अपने कलेजे पर एक भार महसूस कर रहा था, साथ-साथ मादक गुदगुदी से रोमांचित हो सिहर भी उठता था। उसकी साँसें तेजी से चलने लगीं और तब

सिगरेट को पैर से रगड़ते हुए बोला—"विभा, तबीयत ठीक तो है ? चलो घर चलें।"

विभा कुछ बोली नहीं, उसके कंधे पर हाथ रख कर वह और भी चिपक गयी। प्रमोद ने जरा सर झुका कर देखा—सिनेमा वह खुली आँखों से देख रही थी। उसने फिर टोका—"तुम्हारे सर में दर्द बढ़ता जा रहा है, चलो घर!" पर विभा ने उसकी छाती पर सर इस तरह रगड़ दिया जिसका अर्थ था कि वह नहीं जाना चाहती।

इण्टरवल में जैसे ही हाल की बत्तियाँ जलीं कि विभा अलग हो गयी और पूर्ववत् बैठ रही। उसने और प्रमोद ने—दोनों ने देखा कि अगल-बगल के दर्शक उनकी ओर घूर-घूर कर ताक रहे थे और मनचले होठों में मुस्कुरा रहे थे। विभा खड़ी हो गयी—"मेरे सर में दर्द बढ़ता जा रहा है, चलिये"—और दोनों बाहर जाने लगे। प्रमोद ने पाया, कई नजरें उसकी पीठ पर गड़ रही हैं।

बाहर आने पर विभा शर्बत की दुकान में घुसी और उसने दो गिलास लाने का आर्डर भी दे दिया। प्रमोद चुप-चाप गंभीर बना बैठा था। विभा बोली—"आप कुछ बोलते क्यों नहीं ?" वह होठों में मुस्कुरा कर रह गया।

गिलास आया कि प्रमोद एक सांस में घटोस गया जैसे उसका कण्ठ जल रहा हो। फिर उसने सिगरेट का डिब्बा निकाला और आखिरी सिगरेट पीने लगा। विभा धीरे-धीरे शर्बत पी रही थी। प्रमोद डिब्बे को दो टुकड़ों में फाड़, एक टुकड़े को अपनी उँगलियों में घुमाता हुआ गोल बनाने लगा। विभा का पीना जैसे ही समाप्त हुआ, उसने गोल टुकड़े को सामने टेबुल पर रखा और उस पर जोर से मुक्का मारा। डिब्बा एक जोर की आवाज के साथ फट कर पचक गया, विभा खिलखिला पड़ी। नौकर जब बाकी पैसे लौटा रहा था तब प्रमोद ने देखा, उसने सिगरेट का एक नया डिब्बा भी लाकर दिया। उसने उसे लेने को जैसे ही हाथ

बढ़ाया, विभा ने झपट कर छिपा लिया और मुँह बनाते हुए कहा—
"ऊँऽऽऽ—हूँऽऽऽ।"

दोनों सड़क पर आये, विभा प्रमोद का हाथ पकड़ सामने फैले विस्तृत मैदान की ओर बढ़ी—बढ़ती गयी और एकदम मध्य में पहुँची। प्रमोद आगे बढ़ता जा रहा था पर अचानक विभा ने अपना हाथ कड़ा कर उसे पीछे खींचा—"कितनी अच्छी हवा बह रही है, आइये बैठें।" और दोनों सूखी-सूखी घासों पर बैठ रहे।

प्रमोद के अन्दर का भाग्यवादी जाग्रत हो उठा था। वह हृदय से विभा को प्रश्रय नहीं देना चाह रहा था—फिर भी वह अपने को किं कर्त्तव्यविमूढ़ पा रहा था। उसके होठ खुलते ही नहीं थे। वह अपने को उस आदमी की स्थिति में पा रहा था जो चोरों को अपनी चारों ओर देख कर चिल्लाना चाहता हो पर हकला कर रह जाता हो। वह विषम परिस्थितियों में पड़ गया था और तब उसने निष्कर्ष निकाला—जब मँझधार में नाव डूब रही हो, बचने का कोई उपाय नहीं दिख रहा हो तब अपने को लहरों के सुपुर्द कर देना ही अत्युत्तम है, हाथ-पैर फेंकना व्यर्थ है।

विभा, उसकी जांघ पर सर रख कर लेट गयी थी, वह सिहर तो उठा था, पर करता क्या। जांघ वह खींच नहीं सका। विभा ने करवट बदल कर पूछा—"प्रमोद, सिगरेट पीओगे?"

प्रमोद की जांघ अचानक चार अंगुल ऊपर उठ गयी जैसे किसी ने पीछे से बाल पकड़ खींच लिया हो। विभा खिलखिलायी—"तुम चौंके क्यों? इसलिए कि मैंने आज पहली बार प्रमोद कह कर पुकारा?"

प्रमोद चुप था—चुप ही रहा। विभा फिर चित होकर आकाश निहारने लगी। "तुम्हारी कितनी उम्र होगी प्रमोद?"

प्रमोद मुक्ति चाहता था, हिसाब नहीं लगा सका—बोला,—
"२६ जनवरी १६२६ को मेरा जन्म हुआ था।"

"अच्छा! तो तुम्हें तारीख तक याद है?"

प्रमोद उसे अपनी राह पर दूर भगा ले जाना चाह रहा था—"साल तो याद था ही, और तारीख इसलिए याद रही कि वह प्रत्येक भारतीय के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।"

"ओ ! इसीलिए १९४२ को भी तुम नहीं भूल पाते !"

बात अप्रासांगिक ही थी पर प्रमोद को जैसे किसी ने तीर मारा—"तुमने कैसे जाना यह सब ?"

विभा बच्चों की तरह खिलखिलायी। उसने चित लेटे हुए ही प्रमोद की गर्दन में अपनी बाहें डाल दी और कहा—"मैं सब जानती हूँ, रणजीत ने बताया।"

"रणजीत" प्रमोद को और भी आश्चर्य हुआ—"उसने कैसे जाना ?"

"तुम्हारा कोई बचपन का साथी गणेश है ? उसीसे उसे सब बातों का पता लगा है............और एक दिन, जब धर्मशाले में तुम बीमार थे तब वह तुम्हारी डायरी ले आया था। उसमें भी तो बहुत ऐसी बातें लिखी थीं।"

प्रमोद 'हूँ' कह कर ठण्ढा पड़ा और सोचने लगा—अभी ही जाकर वह अपनी डायरी की सभी कापियों को बंद कर देगा और आगे भी जो कुछ लिखेगा, उसे उसी में हमेशा बन्द रखेगा।

"मेरा जन्म सितम्बर १९२६ में हुआ है।" विभा हिसाब लगा रही थी—"तुम मुझसे महज सात महीने के ही तो बड़े हो। मैं इतनी छोटी नहीं कि तुम्हे आप कहूँ ही।"

प्रमोद का तो सारा हिसाब ही गड़बड़ा गया था, वह विभा की पूरी बात सुन सका भी या नहीं, कहना मुश्किल है। उसे याद आ रही थी सुनन्दा, वह नेपाली औरत और न जाने कौन-कौन-सी घटनाएँ। वह विभा की उपस्थिति से पूर्ण अनभिज्ञ हो बहुत दूर विचरण कर रहा था, और उसका दिमाग तारों भरे आकाश में पंख फेंकता हुआ भागा जा रहा था—"सुहानी रात ढल चुकी, न जाने तुम कबआओगे।"

अचानक विभा ने उसकी गरदन में पड़े अपने हाथों को एक झटके के साथ पास खींचा और उसका मुँह चूम लिया—"सिगरेट नहीं पीओगे ?"

प्रमोद धरती पर आ चुका था—जैसे उड़ती हुई चिड़िया गोली खाकर धप्प से गिर पड़ी हो। उसने आस्तीन से मुँह पोंछा, बोला—"लाओ !" जल्दीबाजी में उसका दाहिना हाथ विभा के वक्ष छूता हुआ आगे बढ़ गया था।

विभा खिलखिलायी, वही बच्चों जैसी किलकारी—"लाओ नहीं, ले लो।"

प्रमोद अनायास कह गया—"कहाँ है ?"

विभा का बदन हिल उठा—"डिब्बा मेरी कमर में खुँसा है !"

प्रमोद का बढ़ा हुआ हाथ तेजी से लौट आया और उसे लगा जैसे कोई नयी थाली सीमेण्ट के फर्श पर गिर कर नाचती हुई झनझना उठी हो।

चारों ओर मैदान के किनारे-किनारे बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं, सामने सिनेमा हाउस जगमगा रहे थे, रह-रह कर तेजी से मोटरें आ-जा रही थीं और मोड़ों पर घूमते समय उनके प्रकाश की दो मोटी-मोटी लकीर इस तरह मैदान को पार कर जाती थी जैसे कोई पहरेदार हाथ नचा-नचा कर टार्च मार रहा हो—या आकाश में दुश्मनों के विमान खोजनेवाली सर्चलाइट नीचे की ओर उन्मुख कर दी गयी हो।

विभा, उठ कर सामने बैठ गयी, उसकी दोनों सिकुड़ी हुई जंघाएँ प्रमोद की पालथी पर थीं। उसने उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया—मरोड़ दिया और अचानक उठा कर तेजी से अपने वक्ष तक ले गयी—"यहाँ पड़ा है, लो।"

तारों के मद्धिम प्रकाश में प्रमोद ने देखा—सिगरेट का डिब्बा ब्लॉज से मुख निकाल कर झाँक रहा था और उस पर का सफेद टीसू कागज पतले गले की छाँह तले भी चमक रहा था।

प्रमोद ने हाथ खींच लिया, और बदन झाड़ते हुए कहा—"बहुत

देर हो गयी, अब चलो।" पर विभा उसकी गर्दन में हाथ डाल जमी बैठी रही—"थोड़ी देर और, एक सिगरेट पी लो, फिर चलेंगे।" और उसने स्वयं डिब्बा बाहर निकाला, बहुत धीरे-धीरे टीसू कागज अलग किया, और भी धीरे एक सिगरेट निकाली, फिर डिब्बे को बन्द कर प्रमोद की सामनेवाली जेब में रख दी, उसकी निचली जेब में हाथ डाल सलाई निकाली, सलाई निकालते समय उसकी कमर गुदगुदा दी, सिगरेट को उसके होठों में थमा दिया और तब अंत में धीरे-धीरे एक तिल्ली निकाल उसने इस तरह जलायी जैसे जीवन में पहली बार सलाई का स्पर्श किया हो। प्रमोद एकदम चुपचाप उसके इन प्रयत्नों को देखता रहा।

तिल्ली जली और प्रमोद ने देखा—विभा एकदम अस्तव्यस्त हो उठी थी, उसकी आँखों में एक नशा छा गया था, केश बिखर गये थे और उसके दोनों छोटे-छोटे मांसल वक्ष नीले ब्लाँज के अन्दर सफेद चोली में बँधे मालूम पड़ रहे थे। प्रमोद ने सिगरेट सुलगा ली और फूँक मार कर तिल्ली बुझा दी। वह जोर-जोर से कश लेकर धुआँ फेंक रहा था। विभा उसकी छाती पर सर रखे कुछ देर पड़ी रही और उसकी गर्म-गर्म सांसें प्रमोद के खून को ठण्ढा बनाती जा रही थीं। दोनों रिक्शे पर बैठ घर लौट आये।

प्रमोद रात भर अपने से जूझता रहा। परस्पर दो विरोधी भाव जगे; कोई एक जीता, और जब तक पराजित भाव के सर पर लात रख कर विजयी भाव छाती तानता, तब तक कोई तीसरा भाव न जाने कहाँ से उसके कन्धों पर कूद पड़ता। विजयी ढनमना कर गिर जाता और कुछ देर तक दोनों में उठा-पटक चलती रहती। तीसरा जब तक दूसरे की लाश पर खड़ा होता, तब तक न जाने किस कोने से चौथा भाव आकर उसे छुरा भोंक देता। रात भर उसके मस्तिष्क में ऐसा ही द्वन्द्व चलता रहा। नहीं, वह आगे नहीं बढ़ेगा और न विभा को ही आगे बढ़ने देगा। यह उसकी पराजय होगी—सबसे गर्हित पराजय;

ऐसी पराजय कि फिर वह जो है सो नहीं रह जायगा। इससे अच्छा तो मर जाना होगा; हाँ, जहर पी लेना। वह फिर मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा। विभा, और विभा ही क्यों—संपूर्ण नारी समाज उसकी हँसी उड़ायगा—व्यंग्य करेगा और वह पौरुषहीन—मुमूर्षु होकर सुनता रहेगा। सुन पायगा ?

प्रमोद को लगा जैसे उसके हृदय के तलातल से कोई भयानक चेहरा निकाल कर ठहाके-पर-ठहाके लगाने लगा और बोला—"प्रमोद, अपने को धोखा मत दो। अपने को धोखा देना, दुनिया को धोखा देने से भी महत्तर पाप है।" ठहाकों की आवाज से उसके शरीर की नस-नस झन-झना उठी और तब उसने अपने दोनों हाथों से अपना सर थाम कर जोर से चाँप दिया—मानो द्वन्द्व में शिथिल और ढीली पड़ी हुई नसों को सुव्यवस्थित कर रहा हो।

सुबह विभा ने ही उसे जगाया—"देखो, सूरज कितना चढ़ गया। ओह ! सारा बिछावन पसीने से तर !"

प्रमोद चाहता था, वह आँखें मूँदे पड़ा रहे; विभा को देख न पाये। पर विभा ने गुदगुदी लगानी शुरू की और वह ऐसा चेहरा बनाता हुआ उठ बैठा जैसे उसे यह सब अच्छा नहीं लग रहा हो। विभा ने उसके होठों में सिगरेट थमा दी और फिर रात की ही तरह अनभ्यस्त तरीके से सलाई जलायी। प्रमोद धुआँ निगलता रहा, वह चाय बनाने लगी। चम्मच चलाते-चलाते उसने कहा—"तुम्हें चूरियों की यह खनखनाहट अच्छी नहीं लगती ?"

"मेरे भाग्य में यह सब नहीं लिखा है विभा !"—और प्रमोद ने अपने होठों पर जीभ फेर उन्हें स्वयं चूस लिया और चाय की प्याली ले ली।

उसी दिन दोपहर में अचानक काले-काले मेघ आकाश में घुमड़ने लगे और ऐसा दृश्य छा गया मानो लंका-दहन की आग में काले पड़ गये पवनसुत ने तपते हुए सूरज को निगल लिया हो और अचानक सारी सृष्टि में अंधकार छा गया हो। इसके पहले जब धूप थी ही तभी, प्रमोद लाइ-ब्रेरी में घुसा था, जिसके भीतर खुलने वाले दरवाजे को छोड़ कर सभी द्वार और खिड़कियाँ बंद थीं। न जाने, भीतर बंद उसकी किस प्राकृतिक चेतना ने बाहर की बदली हुई प्रकृति के सुखद रूप को ग्रहण कर लिया और उसने पुस्तक के बीच अपनी उँगली डाल एक खिड़की खोल दी। ताजा हवा का एक झोका आया और प्रमोद वास्तव में एक पग पीछे हट गया। उसने बत्ती बुझा दी, पंखा बंद कर दिया और तब सभी दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दीं। एक खिड़की पर खड़ा होकर वह प्रकृति के इस भीषण पर आनन्ददायक रूप को निहार रहा था। वह विभा को अपने दिल से उसी तरह खींच कर निकाल चुका था, जिस तरह कोई अपने बदन में घुसते हुए जोक को पकड़ परे फेक देता है। पर एक घाव बन चुका था और उससे खून की बूँदें टपक रही थीं। वह पूर्ण निर्द्वन्द्व बन चुका था। वह विभा को कदापि आगे नहीं बढ़ने देगा—उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था।

वर्षा शुरू हुई—पहले बड़े वेग से और फिर धीरे-धीरे, जैसे धुधुँ आती हुई रेलगाड़ी स्टेशन में घुसी हो और छक्-छक् करती हुई चली जा रही हो। काले-काले बादल चितकबरे पड़ते गये और बिजलियों का कड़कना बंद हो गया, हवा का वेग धीमा पड़ गया। प्रमोद बहुत देर तक खिड़की पर खड़ा-खड़ा इस दृश्य को देखता रहा। बाहर फूल के मुर-झाये पौधे नहा-धोकर बिहँस रहे थे, आम की पत्तियाँ और भी हरी पड़ कर हौले-हौले डोल रही थीं। बाग की सड़कों पर धार चल रही थी और उससे एक ताल-लय-युक्त आवाज हो रही थी। प्रमोद की इच्छा हुई कि वह खूब दौड़-दौड़ कर वर्षा में नहावे, पर न जाने क्यों वह फिर

खिड़की के पास ही कुर्सी खींच कर बैठ गया।

परसो परीक्षा प्रारम्भ हो रही थी और प्रमोद किसी प्रश्न पर सोच रहा था, कि अचानक पीछे से आकर विभा ने उसकी आँखें मूँद लीं। सोचने का क्रम टूट जाने से वह झुँझला उठा और उसने जोर लगा कर आँखों पर से हाथ हटा दिये। हाथ हटने पर विभा सामने आ गयी, फिर घूम कर कुर्सी के हत्थे पर बैठ रही। उसने प्रमोद के गले में अपनी बाहें डाल दीं और वह उसे चूमने को ही थी कि प्रमोद चीखा—"हटो विभा यहाँ से, मुझे पढ़ने दो।" उसने झटके से अपनी गर्दन छुड़ा ली।

विभा ने उसके हाथ से किताब छीन कर कोने में फेंक दी और फिर हत्थे पर बैठते हुए कहा—"तुम पढ़ो न, मैं क्या करती हूँ।" वह खिलखिलायी। प्रमोद उठा और एकदम अप्रत्याशित रूप से विभा के गाल पर जोर का तमाचा पड़ा।

"प्रमोद !" विभा लिपट गयी।

"पहले भी एक औरत इसी तरह मुझे पढ़ने को कहा करती थी। समझी ? और उसने मुझे यह पाठ पढ़ाया था...।" प्रमोद ने तैश में कहा और विभा को अपने गले से अलग कर एक झटके के साथ कोने में धकेल दिया। कोने में पड़ी मेज का नुकीला कोना उसकी कनपटी में लगा और वह ढनमना कर गिरती हुई चीख उठी—"जानवर ! हैवान !!"

प्रमोद बौखला उठा, उसके नथुने लाल होकर उठ-बैठ रहे थे—"चली जाओ यहाँ से ! जानवर ? तुम जो कहो वही मैं करूँ तो देवता ? एँ ? मैं अपने पर विश्वास करनेवाले मित्र के साथ विश्वासघात करूँ तो बहुत अच्छा ? और तुम उधर अपने होनेवाले पति के साथ विश्वासघात कर देवी बनी रहो ?········जाओ यहाँ से ··········पतित ! नीच !!"

•

प्रमोद का सारा शरीर थर्र-थर्र काँप रहा था, वह हाँफ रहा था। चेहरा तमतमाया हुआ था, उसकी आँखों में लाली दौड़ गयी थी। वह कुर्सी पर बैठ रहा और विभा एक झटके के साथ किवाड़ी झकझोरती हुई बाहर निकल गयी। हवा का एक तेज झोंका आया और किवाड़ियों को कई बार फटफटा कर चला गया। प्रमोद ने सिगरेट सुलगा ली और वह खिड़की पर सर थामे अपनी इस विजयिनी दुर्बलता पर सोचता रहा—सोचता रहा—और जब मेघों का बरसना बंद हो गया था, सारा वातावरण शीतल हो गया था, तब डूबते हुए सूरज की सिमटती हुई किरणों ने उसे खिड़की पर टाँगें छितरा कर कुर्सी पर पड़े-पड़े ही नन्ही-नन्हीं साँसे गिनते हुए पाया। उसे नींद ने आ घेरा था।

पलटू ने उसे जगाया, चाय का ट्रे सामने रख दिया और बताया—"मँझली बिटिया अपनी कोठरी में बंद पड़ी है। कितना कहा पर किबाड़ी खोलती ही नहीं।" प्रमोद ने एक भारी 'हूँ' भरी और चाय ढालने लगा। पलटू बहुत देर तक किवाड़ी के पास खड़ा रहा और जब वह फिर ट्रे उठा कर जाने लगा तब प्रमोद ने कहा—"बाबा, जरा बत्ती जला दो और देखो, वह जो किताब कोने में फेंकी हुई है न, जरा देना तो!"

पलटू चला गया और वह पन्ने उलटने लगा, पर उसकी तबीयत लगी नहीं। दिमाग भाग-भाग जाता, विभा की कोठरी में पहुँचता, उसके हृदय में प्रवेश करता और तब वहाँ देखता—एक भयंकर आँधी चल रही है—एक भीषण तूफान उठ रहा है। वहाँ से भागता, रणजीत के घर पहुँचता, उसके हृदय में घुसता और पाता—एक वीणा बज रही है जिसके बीचवाले तार से एक करुण ध्वनि गूँज रही है। प्रमोद उठा

और उसी तरह खाली पाँव रणजीत के घर पहुँचा। रणजीत, हाल में युद्ध से लौटे अपने डाक्टर भाई के साथ कैरम खेल रहा था।

प्रमोद को उस रूप में आते देख कर पहले तो रणजीत चौंका, पर पीछे यह सोच कर कि किसी ज्ञान-विज्ञान के दौरे के समय ही इस प्रकार उठ कर चल पड़ा होगा—वह हँसा। उसने अपने डाक्टर भाई से परिचय कराया और प्रमोद की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। उसने कहा—"भैय्या, औरतों को हिस्टीरिया का जिस प्रकार दौरा आया करता है न, उसी तरह इनको कभी-कभी ज्ञान-विज्ञान का दौरा आया करता है।" और उसने आँखें मटका कर कहा—"अभी उसी दौरे का समय है, इनसे अधिक नहीं बोलिये।"

डाक्टर साहब हँसे और फौजी कवायद करते हुए नहाने चले गये। प्रमोद ने कहा—"रणजीत, चलो।"

"कहाँ ?"

"जहाँ आने को मैंने मना किया था।"

"क्या कह रहे हो तुम ?"

"मैं ठीक कह रहा हूँ, देवी तुम्हें वरदान देने को तैयार है। वह इसलिए रूसी बैठी है कि उसका भक्त ऐसे समय उसका गुण-गान न कर कैरम खेल रहा है।" और समय होता तो रणजीत हँसता पर इस समय वह हँस नहीं सका। प्रमोद ने खड़ा होकर जबर्दस्ती उठाया—"चलो न।"

रास्ते में दोनों चुप ही रहे। प्रमोद ने सिर्फ इतना ही कहा—"विभा का मोह भंग हो गया है और वह ठीक रास्ते पर आ गयी है। अभी वह कोठरी बंद कर रो रही होगी, उसने शाम को जलपान भी नहीं किया। तुम जाओ, उसके आँसुओं को पोंछ दो और वरदान ले लो।"

रणजीत ने पूछा भी—"क्या हुआ आखिर ? आखिर यह कौन-सी पहेली है ?" "पहेली-उहेली कुछ नहीं। मैं जो कहता हूँ, तुम करो।"

गुरुआई करते-करते प्रमोद के स्वर में कुछ अधिकार-भावना बोलने लगी थी। और, कुछ देर ठहर कर फाटक में घुसते-घुसते उसने पूछा था— "तुम्हें मुझ पर विश्वास तो है न ?"

रात में, प्रमोद ने अभी-अभी अपने कमरे की बत्ती बुझायी थी। सारी कोठरी पतंगों से भर गयी थी और पढ़ना मुश्किल दीख रहा था। वह सोना चाह रहा था, पर उसे नींद नहीं आ रही थी। वह कुर्सी पर बैठा था और सामने बाग में खड़े लोहे के खंभों पर जलते हुए बल्बों के चारो ओर चक्कर काटते हुए परवानों के समुदाय को देख रहा था। परवाने अनवरत्—अप्रतिहत्, तेजी से चक्कर मार रहे थे और जैसे थकने का नाम ही न लेते थे। परंपरा से आती हुई कवियों की यह भावना उसके मन में आयी—परवाने रौशनी पर कुर्बान हो जाते हैं। उन्हें रोशनी से इश्क है।—फिर एक नये कवि का वह भाव आया—नहीं, परवाने रौशनी पर नहीं मरते। वे अंधकार के आशिक हैं। वे तो रौशनी पर इसलिए दल बाँध कर टूट पड़ते हैं कि वह अंधकार की कातिल है। प्रमोद सोचता है—कौन ठीक है ? कौन गलत है ?

अंधेरी कोठरी में कुर्सी पर बैठे प्रमोद ने आखिरी कश लेकर सिगरेट को पैर से रगड़ डाला और बायें पर दाहिना ठेहुना चढ़ा कुछ सामने झुक गया। बाग में जलते हुए बल्ब का धीमा प्रकाश खिड़की होकर उसके ठेहुनों से लेकर नीचे फर्श तक पड़ रहा था और उसमें सिगरेट के कई अधजले और रगड़े हुए टुकड़े साफ दिखायी दे रहे थे। प्रमोद ने एक 'आह' की और सारी देह पीछे फेंक कर आँखें मूँद ली।

विभा, बहुत देर से दरवाजे पर खड़ी-खड़ी उसकी इस बेचैनी को

देख रही थी और जब उसने प्रमोद की वह भारी 'आह' सुनी तो उसने उसकी पीड़ा और वेदना की थाह लगानी चाही। वह धीरे धीरे आगे बढ़ी, उसे कुछ नहीं सूझ रहा था। पक्षी की सिर्फ आँख ही देखनेवाले शिकारी अर्जुन की तरह वह अपने सामने, प्रमोद का सिर्फ ठेहुना पर चढ़ा ठेहुना ही देख रही थी—और कुछ नहीं। उसने पास आकर उसके पैर पकड़ लिये और सिसकियाँ लेने लगी—"मुझे माफ कर दो प्रमोद, मुझे माफ कर दो।" वह फफक रही थी।

प्रमोद के मुँह से कुछ भी नहीं निकला, उसने विभा को उठाना चाहा पर या तो उठा नहीं सका, नहीं तो विभा ही उसके ठेहुनों को नहीं छोड़ रही थी।

भींगी हिचकियाँ लेती हुई विभा अस्फुट स्वर में धीरे बोली—"मुझे माफ कर दो। मैंने गलत समझा।.......... तुम देवता हो।" और वह ठेहुनों से अपना मुँह रगड़ कर बरस पड़ी।

"आदमी के जानवर और देवता बनने में सिर्फ इतनी ही देर लगा करती है विभा।" और वह झुक गया इस तरह कि जैसे रीढ़ की हड्डी टूट गयी हो। विभा और भी फफक कर रोने लगी—सटी हुई रोती रही।

विभा ने जब अपने चेहरे पर ऊपर से आती हुई गरम बूँदों को टप-टप कर गिरते पाया तब वह अपना हाथ प्रमोद की आँखों तक ले गयी—"तुम रो रहे हो?" प्रमोद न हिला, न डुला—वह मूरत बना था और उसकी आँखों के आँसू से विभा की तलहथी भींग रही थी—भींगती जा रही थी।

"रणजीत ने कहा था—तुम्हारे आँसू बड़े मँहगे हैं। तुम घड़ों खून बहा सकते हो पर एक बूँद आँसू नहीं टपका सकते।"

विभा थोड़ी देर उसी तरह बैठी रही, फिर खड़ी हुई और प्रमोद का हाथ पकड़ उसे खाट पर ले गयी। अंधेरे में ही अपने आँचल से उसने

उसकी आँखें पोछ दी और बोली—"सो रहो, सब भूल जाओ।" वह बहुत देर तक उसकी मुँदी पलकों पर तलहथी रखे सिरहाने बैठी रही थी।

× × ×

आभा की परीक्षा का रिजल्ट निकला और उसे प्रथम श्रेणी में स्थान मिला। विभा सुबह-सुबह अखबार लेकर प्रमोद की कोठरी में दौड़ी आयी—"आश्चर्य, आभा फर्स्ट डिवीजन में पास हो गयी, यह देखो।" प्रमोद चौंका नहीं, देख कर बोला—"इसमें आश्चर्य की क्या बात है, उसे तो फर्स्ट डिवीजन आनाही चाहिये था।"

"आश्चर्य नहीं तो और क्या? अरे, वह सब दिन फिसड्डी ही रही है।"

प्रमोद ने जरा सीना तान मुस्कुराते हुए कहा—"तुम यह भूलती हो कि मैने उसे पढ़ाया है। उसे घोल-घोल कर ऐसी चीज पिला दी है कि अब वह कभी फिसड्डी नहीं रह सकती।"

विभा मुस्कुरायी—"अच्छा! तो यह बात है! लड़े सिपाही, नाम हवलदार का।"

प्रमोद उसी मुद्रा में बोला—"ऐसा ही समझो।" और उसने विभा का कान पकड़ जरा हौले मरोड़ते हुए कहा—"और तुम ऐसी फिसड्डी निकली कि हवलदार की वर्दी तक छिन गयी।"

"हटोजी, एक ऐसे उजड्ड मसखरे के साथ बाँध दिया कि अब न उगलते बनता है, न निगलते।"

प्रमोद ठहाका देकर हँसा, ब्रश पर पेस्ट रखते हुए बोला—"विभा, इस मक्कार दुनिया में यदि एक भी सच्चा और ईमानदार आदमी मिल जाय तो उसे नियामत समझो, नियामत।............रणजीत बहुत सच्चा और ईमानदार है।"

विभा लजा गयी। प्रमोद ने दो बार दांतों को घसते हुए और फिर

उसकी ठुड्ढी पकड़ जरा उठाते हुए कहा—"क्या वास्तव में साँप-छुछुन्दर वाली हालत है ? तुम्हारी आँखें तो कुछ और कह रही हैं।"

विभा ने लज्जावश पलकें झुका लीं और मन्द-मन्द मुस्कुराती रही।

प्रमोद ने उसकी नाक पकड़ डुलाते हुए कहा—"पगली !"

आभा को ट्रङ्क किया गया। जिस समय फोन पर बातें चल रही थीं, उस समय प्रमोद भी वहाँ उपस्थित था। यहाँ से विभा बोल रही थी—"हैलो, 'हैलो······डैडी ?·····गुडमार्निङ्ग डियर डैडी·············गुड न्यूज फॉर आभा·············नो-नो डैडी ! मैं नहीं बताऊँगी·············नोऽऽ, पहले वायदा कीजिये डैडी, क्या दीजियेगा·············आभा से क्यों डैडी, नहीं आपसे लूँगी———अरे, वह तो फिसड्डी है डैडी, फिसड्डी ! जो मिला है, वही बहुत है···········ऊँ ? ऊँ हूँ ! मैं नहीं बतलाऊँगी जब तक·············गुड डैडी, गुड।·············जी उसे फर्स्ट डिवीज़न मिला है·············जी हाँ, फर्स्ट डिवीजन।·············क्यूँ, नहीं-नहीं डैडी, ऐसी बात नहीं है ?·············हाँ है, खूब मजे से है !···········नहीं-नहीं कोई तकलीफ नहीं डैडी।·············हैलो, हैलो डैडी, आभा कहाँ है ?·········क्या ? बाथरुम में ?·········उसको अभी नहीं कहियेगा डैडी·········क्यूँ,···न, बहुत तंग करेगी तो कहियेगा फेल कर गयी है।·············क्या ? आ रही है ?···········गुड !·············हैलो, हैलो···········हाँ-हाँ, मैं, आभा ! फेल कर गयी न तुम·············बापदादों की नाक कटवायी तुमने।···नो-नो माई डीयर·············च-च-च ···········क्या नज़ाकत है !·············हाँ, यहीं बैठा है,·············हाँ जी, यहीं बगल में बैठे हैं !·············दे दूँ ?·········टा-टा।

और विभा ने चोंगा प्रमोद की ओर बढ़ा दिया। प्रमोद पहले तो बनावटी आश्चर्य से बोला—"कौन ? डैडी हैं क्या ?"

"नहीं जी, तुम्हारी शिष्या महारानी हैं।"

प्रमोद ने चोंगा कान में सटाया ही था कि आभा की महीन आवाज आयी—"प्रणाम!" प्रमोद के हाथ काँपे, डोले·············पर वह सम्हला, और बहुत सम्हलकर उसने उत्तर दिया— "बधाई !"

फिर कुछ क्षणों तक, इधर-उधर से न कोई आवाज आयी और न गयी ....सिर्फ न जाने कौन-सा यंत्र उस मेंढ़क की तरह गुँगुआता रहा, जिसका धड़ साँप के मुँह में हो, पर सर बाहर। गुँगुआना थोड़ा मद्धिम पड़ा ही था कि उधर से जैसे बहुत सम्हली हुई आवाज आयी थी—"आप अच्छे तो हैं?" ....कि लाइन काट दी गयी।

प्रमोद चौंका, सिहरा और ठिठक कर रह गया। चोंगा यथास्थान रख कर, वह अपनी कोठरी में आ चित लेट रहा।

उसे ज्ञान न रहा कि आकाश के पूर्वी कोने में कब एक धूमिलता छा गयी, कब धुआँ का एक बवण्डर वहाँ उठा, और कब वह सूरज को निगलता हुआ सारे शून्य को आत्मसात् कर गया। जब हवा के तेज झोंकों ने खिडकियों और किवाड़ियों को फटाफट लगातार झकझोरना शुरू किया, तब वह उठा और खिड़की पर आकर खड़ा हो गया। उसने ऊपर आँखें उठा कर ताका—काले-काले घुमड़ते हुए मेघ—क्षितिज के पास जैसे स्याही में पुते, ऊपर कुछ पनछाहे, और बीच में चितकबरे पड़ते हुए, प्रकाश के चारों ओर एक व्यूह बना कर क्रमशः संकीर्ण होते जा रहे थे—अंधकार, जैसे किरणों को चिपटा कर अपने बाहुपाश को कसता जा रहा था। पतली-पतली किरणें, अचानक नीचे से छिटक कर सरक गयी थीं और किसी गुफा में छिप जाने को भाग गयी थीं। अंधकार, भावावेश में, उसी तरह आँखें मूँदे जैसे ठिठका हुआ खड़ा था—या कि अंधा धृतराष्ट्र भीम की लोहे की मूर्ति को अपने बाहुपाश से चूर-चूर कर अवाक् ठिठक गया हो। प्रमोद, एकदम मध्य आकाश में खाली बाहुपाश देख रहा था। नभ की हल्की नीलिमा, जिस पर धूमिल पर्त्त चढ़ गयी थी, वृत्त के केन्द्रबिन्दु की तरह झाँक रही थी। उस जगह लज्जित किरणों के गुलाबी गालों की लाली, जैसे पलाश के शबनम से भींगे फूल की तरह चू गयी थी और धूल से सन गयी थी। उसकी नाक, दूर से आती हुई मिट्टी की सोंधी गंध से भर गयी थी, और वह देख रहा

था—आकाश की अलगनी से लटकी हुई एक ऐसी भींगी साड़ी तेजी से उसकी ओर फहरती आ रही थी, जिसके तार-तार, किसी आशिक की जिन्दगी की तरह अलग-अलग टूटे पड़े थे ।

प्रमोद खिड़की पर खड़ा था, खड़ा रहा। उसकी देह का अधोभाग—कमर के ऊपर का अंश, बूँदों का मुष्टि-प्रहार सह रहा था—और अब वह काफी भींग चुका था। बूँदे संग्रहीत होकर नीचे सरकने लगी थीं, उसकी चप्पल पर टप-टप चूने लगी थीं। उसने खिड़की बंद कर दी, भींगी गंजी उतार डाली, चप्पल कोने में फेंकी—और धोती को कमर में समेट वह सामने के खुले मैदान में उतर पड़ा। उसे लगा, जैसे उसके रोम-रोम से भीतर की संग्रहीत ज्वाला निकल रही है। वर्ष भर की उष्णता, और वर्षा की ये पहली बूँदें। उसकी पपनियों तक से गर्मी निकल रही थी, वह ऐसा महसूस कर रहा था।

कि उसने देखा—विभा भी ओसारे पर खड़ी-खड़ी भींग रही थी। प्रमोद, होठों में मुस्कुराया और विभा भींगती हुई खुले मैदान में उतर पड़ी। दोनों ने उसी तरह किलकारी मारी जैसे सृष्टि के प्रथम नर-नारी ने वर्षा के पहले बादलों को देख कर अपने हृदय का आन्तरिक उल्लास प्रकट किया होगा। हवाके तेज झोकों में बूँदें कुछ इस प्रकार तितर-बितर होकर गिर रही थीं, जैसे कोई किसान सूप में रख कर अनाज के दानों को खलिहान में बिखेर रहा हो, या कि बहुत ऊँचे से गिरते हुए प्रपात को कोई आँधी अपनी अंजुलि में धरती से ऊपर-ऊपर ही लोक कर, फिर नाचती हुई छहरा देती हो। प्रमोद और विभा—दौड़-दौड़ कर भींग रहे थे, नहा रहे थे। बीच-बीच में प्रमोद हरी-भींगी घासों पर बैठ जाता और विभा को देखता। पेड़ पर कलम आम हौले-हौले झूल रहे थे—झूलते रहे थे; डालियों पर गुलाब के बड़े-बड़े फूल झुक-झुक झूम रहे थे—झूमते रहे थे।

आकाश के चितकबरे बादल फटे और छितराने लगे। विभा ने

अपनी साड़ी निचोड़ी और पलटू को बुला कर खाना परोसने को कहा—"आह, कितनी गर्मी थी। अब जाकर मन ठण्ढा हुआ। चलो जल्दी, भूख बेतरह लगी है।" पर प्रमोद को ऐसा लग रहा था जैसे कि उसका रोम-रोम अभी तक जलता ही रहा हो, उसको मन भर शीतलता न मिली हो—कि उसकी आँखें लाल-लाल हो उठी हों, किचकिचा रही हों। फिर भी उसने अँगोछे से बदन पोंछा, कपड़े बदले; और जब वह एक पका हुआ आम लेकर चाभने लगा था, तब विभा सज-धज कर खाने के टेबुल पर पहुँची थी।

प्रमोद को, शाम होते-होते ही बड़े जोरों का बुखार चढ़ आया। उसके बदन में बेहद पीड़ा थी और उसे लग रहा था—जैसे उसका रोम-रोम दो भागों में विभक्त होकर फट गया हो, फटना चाह रहा हो। उसकी आँखों से वैसी ही लपटें निकल रही हों जैसी कि हवनकुण्ड से शिखाएँ लपकती हैं। वह करवटें बदलता, उठ कर बैठता, आँखों में छींटे मारता और फिर लेट जाता। वह चाह रहा था कि कोई उसके बदन को अपनी बाहों में कस कर चाँपे और उमेठ दे, वह चाहता था कि कोई उसकी आँखों को निकाल कर बर्फ के बरतन में रख कर ढाँप दे।

वह इसी प्रकार अँधेरी कोठरी में लेटा कुलबुला रहा था और अँधेरा उसे अच्छा लग रहा था। नौ बजे के लगभग विभा ने पूछताछ की तो किसी को भी पता नहीं था कि प्रमोद इस प्रकार दर्द से कराह रहा है, बुखार से हाँफ रहा है—और उसकी ऐसी हालत विगत कई घण्टों से है। सब समझ रहे थे कि वह चुपचाप कहीं निकल गया है और अभी तक लौटा नहीं। बहुत देर बाद पलटू ने कोठरी खुली पाकर बत्ती जलायी तो उसे इस तरह लेटा देख कर वह ठिठका। और तब तो एक हंगामा मच गया। विभा आयी, रणजीत आया, और नौकर-चाकर आये, बुखार लिया गया, तथा न जाने कितनी चिन्ताएँ और आशंकाएँ प्रकट की गयीं।.........पर प्रमोद ने यह कह कर आँखें मूँद लीं कि एक-दो दिन उपवास कर लेने से सब ठीक हो जायगा, चिन्ता की कोई बात नहीं।

पर बुखार था जो घटने का नाम ही नहीं लेता। तीन दिनों बाद डाक्टर ने टायफायड की घोषणा कर दी और उपयुक्त संयम तथा परिचर्या की सलाह दी। प्रमोद बेहोश रहता, और जब होश में रहता तो बहरा बन जाता। वह कम सुनने लगा था, और जब-तब न जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगता था। विभा माथे पर पट्टी रखती जाती और फिर उस बड़बड़ाहट का अर्थ भी निकालती जाती। रणजीत भी सिरहाने बैठा-बैठा सुनता और तलहथी पर मत्था रख घण्टों सोचता। वह विभा से कह रहा था—"इसकी बड़बड़ाहट को भी समझने के लिए दिमाग चाहिए। कुछ समझ में नहीं आता, न जाने क्या-क्या बोलता रहता है।" उसने सिगरेट सुलगा कर, तिल्ली को उँगलियों में नचाते हुए दूर फेंक दिया और जरा दर्दीले स्वर में कहा—"पर एक बात है विभा, बड़ा दुखी व्यक्ति है........ और, ऐसा लगता है कि जीवनभर बड़बड़ाता ही रहा है।"

बैरिस्टर साहब को खबर की गयी और चौथे दिन वे आभा के साथ आये भी। प्रमोद उस समय बेहोशी में था। आभा ने पैर छूकर प्रणाम किया, फिर बहुत देर तक उसी जगह बैठी रही। वह रह-रह कर उसके पैर पकड़ लेती और कुछ क्षण पकड़े रहती—फिर थोड़ा झकझोर देती, कि प्रमोद देखे—वह आ गयी है।

संध्या समय उसे होश आया—आभा पैरों के पास ही बैठी थी। अचानक उसने कहा—"पानी।" उसकी आवाज एकदम क्षीण थी, लड़खड़ायी हुई थी। आभा झपट कर उठी और पानी ढाल सिरहाने पहुँची। उसने प्रमोद के सर के नीचे हाथ लगा कर उसे उठाया और गिलास मुँह से लगा दिया। पानी पीकर वह आँखें मूँदे लेटा रहा।

कुछ क्षण बाद उसने आँखें खोलीं, पलकों को रगड़ा, और उसके चेहरे पर एक हल्की प्रसन्नता छा गयी। सामने आभा खड़ी मुस्करा रही थी।

"तुम कब आयी?"

"आज सुबह ही तो"—बच्चे की तरह तेजी से सर डुलाते हुए आभा बोली।

"बैरिस्टर साहब ?"

"वे भी आये हैं। बहुत देर तक यहाँ बैठे रहे, आराम करने गये हैं।"

प्रमोद ने अपने कान पर हाथ रखते हुए संकेत में जैसे कहा—"मैं कम सुनने लगा हूँ, समझा नहीं।" आभा सिरहाने बैठ रही और कान के पास मुँह ले जाकर बोलने लगी—उसने उसके लिए कौन-कौन-सी पुस्तकें खरीदी हैं, चमड़े का सूटकेश कैसा सुन्दर खरीदा है, और फिर बरसाती कितनी अच्छी है।

प्रमोद मुस्कुराया—"किसलिए ?"

आभा चुप ही रही। फिर वह उठी—सूटकेश, बरसाती और किताबें उठा लायीं। प्रमोद लेटे-लेटे ही किताबों को एक-एक कर देखने लगा, आभा एक-एक कर दिखा रही थी। प्रमोद सब का नाम देखता और फिर लौटा देता। आभा हतोत्साह होती जा रही थी—सोच रही थी एक-दो पन्ने उलट कर भी तो देखते। जब एक ही किताब बच रही, तब उसने हार कर, वह पन्ना ही निकाल उसके सामने रखा जिसमें लिखा था—"अपने देवता के चरणों में—आभा।" प्रमोद ने देखा—लिपि को कलात्मक बनाने का बहुत अधिक प्रयास किया गया था, और वह हौले मुस्कुरा पड़ा। फिर उसकी लम्बी वेणी को झकझोरते हुए बोला—"पगली! मंसूरी से यही सीख कर आयी है ?"

आभा ने सूटकेश दिखाया, उसके भीतर भी सुन्दर लिपि में काढ़ दिया गया था—"प्रमोदकुमार, पटना।"—और फिर बरसाती। प्रमोद बोला—"अब तो इतना दुबला पड़ गया हूँ कि यह झूलर की तरह लगेगा।"

आभा ने उसके तह किये, सूटकेश पर रखा, फिर उस पर किताबों को सजाया—और सबको उठाकर उसी तरह खड़ी हो गयी, जिस तरह कोई नजर पेश करने वाला बादशाह के सम्मुख खड़ा होता है—"स्वीकार कीजिये।"

प्रमोद मुस्कराया, और उसने किताबों पर अपना दुबला-पतला बीमार

हाथ रख दिया; रखा नहीं, सटा दिया। आभा ने मस्तक मे लगा कर सभी चीजों को पायताने रखा और स्वयं सिरहाने आकर बैठ गयी।

अठाईस दिनों पर आज सध्या समय प्रमोद को पथ्य दिया गया। इस बीच आभा ने न दिन देखा, न रात। वह हमेशा सिरहाने बैठी रही, नहीं तो पायताने प्रमोद के पैर पकड़ ऊँघती रही। विभा आकर डाँटती—"जा, आराम कर ले थोड़ा", पर वह जा-जा कर रुक जाती और यदि चली ही जाती तो जल्द से जल्द लौट आती।

प्रमोद आज खूब पसर कर सोया, कई दिनों बाद आज उसे गहरी नींद आयी थी। अचानक लगभग बारह बजे रात उसकी नींद टूटी तो उसने पाया—आभा उसके पैरों को पकड़े ऊँघ रही थी। उसने अपने पैर हिला दिये, आभा चौंक कर जाग उठी। संकेत से उसने उसे पास बुलाया, पानी मांगा और तब उसे सिरहाने बैठ जाने को कहा। आभा उसके बिखरे बालों में उँगलियाँ फेर रही थी।

"आभा, मैं सोचता हूँ कि मेरा मर जाना ही ठीक है।"

आभा ने झट उसका मुँह बन्द कर दिया—"ऐसी बात नहीं बोलते"

"तुम नहीं जानती न, मैं क्यों मर जाना चाहता हूँ।"

आभा की तलहथी उसके गले पर फिर रही थी—"मैं जानना भी नहीं चाहती।"

प्रमोद ने करवट ली, और उसकी जंघा से अपना मुँह रगड़ते हुए कहा—"हाँ, जानने की बात यह है भी नहीं कि कोई क्यों मर जाना चाहता है। असल में, जानने की तो बात यह है कि बारंबार आयी हुई मृत्यु को धकेलता हुआ कोई क्यों जिन्दा रहना चाहता है।"

आभा प्रमोद के कंठ के उभरे हुए शंख को, और कभी उसकी नुकीली नाकको चुटकी में पकड़ खींच रही थी, चाँप रही थी, सहला रही थी।

"क्या रखा है इस जिन्दगी में? सोचो तो! जरा विचारो तो मुझ जैसे व्यक्ति को क्यों जिन्दा रहना चाहिये!" प्रमोद जैसे आवेश पर ढक्कन रखता हुआ थम गया।

आभा शंख को चाँप रही थी, चाँपती रही। गरदन पर की घुमच्चियों को सहलाती रही, और अब उसका हाथ प्रमोद की नंगी छाती पर रेंग रहा था।

"तीन बार मृत्यु ने मुझे दबोचा..........और जब मैंने चाहा कि वह मुझे आत्मसात कर ले तभी उसके पंजे ढीले पड़ गये—खुल गये।..........मैं मरना चाहता हूँ, पर मृत्यु मुझे मारना चाहती नहीं..........बहुत संभव है कि जानती नहीं।..........जानती हो आभा, लगभग एक साल पहले मैं आत्महत्या करने गया था। आज भी कुछ ऐसे ही विचार आ रहे हैं।"

आभा का कोमल हाथ प्रमोद की नंगी छाती पर रेंग रहा था, उसने बात बदलने के लिए कहा—"आप बड़े निर्मम हैं।"

"क्यों?—बहुत देरकी शांति के बाद यह एक छोटा-सा वाक्य सुन कर प्रमोद चौंका। आभा हाथ फेरती जा रही थी और मुस्कुरा रही थी—"लोगों का कहना है कि जिसकी छाती में केश न रहे, उसके हृदय में दया नहीं होती; और..........और आपकी छाती में एक केश भी नहीं।"

प्रमोद हँसा, तकिये पर सर रख चित लेट गया—"हाँ, लोगों का कहना बहुत ठीक है आभा..........बहुत ठीक..........देखो न, इसी लिए दुनिया की किसी भी औरत के दिल में दया नहीं होती।"

आभा जोर से हँस पड़ी, प्रमोद की छाती पर सर रख किलकती रही। प्रमोद होठों में मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ गंभीर बन गया था, ऊपर बिजली के नाचते हुए पंखे ने आभा के सूखे-खुले केशों को छितरा कर प्रमोद की नंगी छाती ढाँक दी थी और आभा, प्रमोद की छाती पर की रेशम-सी महीन रोमावलियों को चुटकी से पकड़ इस तरह खींचती रही थी कि वे टूट न जायँ।

———

मुद्रक—श्री काशीप्रसाद भार्गव—सुलेमानी प्रेस, मछोदरी पार्क बनारस।

शिखंडी

(दूसरा भाग)

शीघ्रही

प्रकाशित हो रहा है–

प्रतीक्षा करें !!!

प्रकाशक

राज-प्रकाशन पटना–४